विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक १०   अक्तूबर २०००   मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक १०

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

फोन : ४१३ ३६९

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज,
इलाहाबाद - २११ ००३

रामनवमी, १२ अपॅल २०००

पूर्ण कुम्भ मेला शिविर - २०००

एक अपील

प्रिय मित्र,

प्रयागराज का कुम्भमेला विश्व के सबसे बड़े धार्मिक उत्सव के रूप में प्रसिद्ध है। सहस्राब्दी का प्रथम पूर्ण कुम्भ मेला यहाँ ९ जनवरी से ८ फरवरी, २००१ तक सम्पन्न होने जा रहा है। इस महान् अवसर पर देश के सभी भागों एव विदेश से डेढ़ करोड़ से भी अधिक तीर्थयात्रियों और साधु-सन्यासियों के भाग लेने की आशा है।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम प्रयाग, पूर्व वर्षों की भाँति मेलाभूमि पर धर्म और अध्यात्म के प्रचार के लिए तथा साधुओं, तीर्थयात्रियों और कल्पवासियों को निःशुल्क चिकित्सा-सुविधा उपलब्ध कराने के लिए एक शिविर खोलने जा रहा है। शिविर की मुख्य गतिविधियाँ इस प्रकार होंगी –

(१) साधुओं, कल्पवासियों तथा यात्रियों को निःशुल्क चिकित्सा प्रदान करने के लिए आधुनिक दवाइयों से युक्त तथा सुयोग्य डॉक्टरों, कम्पाउण्डरों और चिकित्सा कर्मियों द्वारा सचालित एक एलोपैथिक और होमियोपैथिक क्लिनिक तथा एक प्राथमिक चिकित्सा-केन्द्र, जिसमें एक्यूपंचर चिकित्सा की भी सुविधा रहेगी। (प्रतिदिन रोगियों की अनुमानित सख्या १५००)।

(२) एक मन्दिर और सत्संग पंडाल जहाँ प्रतिदिन भजन और प्रवचन के कार्यक्रम होंगे तथा जहाँ संत-सम्मेलन, वेदान्त-सम्मेलन, भक्त-सम्मेलन और युवा सम्मेलन का आयोजन किया जायेगा।

(३) श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के विचारों तथा आदर्शों और वेदान्त-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए एक पुस्तक-विक्रय-केन्द्र, जहाँ हिन्दी, अंग्रेजी तथा बगाली में साहित्य उपलब्ध रहेगा।

(४) एक चित्रमय प्रदर्शनी जो श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उपदेशों को तथा भारत में वैदिक काल से लेकर अब तक धर्म और सस्कृति के क्रमशः उत्थान को दर्शायेगी। पूरे शिविर का अनुमानित खर्च ६०,००,०००/- (साठ लाख रु०) है।

(५) चेक तथा ड्राफ्ट "**A/C Payee only**" से रेखित और "रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद" के नाम पर काटा जाना चाहिए और इसे यदि रजिस्टर्ड डाक से भेजा जाय तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

धन्यवाद सहित,

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी निखिलात्मानन्द
सचिव

---

१. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दिया गया दान इन्कम टैक्स ऐक्ट १९६१ की धारा ८० जी के अधीन आयकर से मुक्त है।

२. महत्वपूर्ण स्नान के दिन हैं - ८ जनवरी (पौष पूर्णिमा) १४ जनवरी (मकर संक्रांति) २४ जनवरी (मौनी अमावस्या), २८ जनवरी (वसन्त पंचमी) और ८ फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

३. जो लोग कुम्भ मेला के अवसर पर हमारे परिसर में भोजन एवं आवास की सुविधा चाहते हैं, उन्हें १५ अक्तूबर तक अग्रिम भुगतान के साथ, एक निर्दिष्ट फार्म पर आवेदन करके अपना स्थान आरक्षित करा लेना चाहिए। आवेदन पत्र तथा विशेष जानकारी के लिए उपरोक्त पते पर शीघ्र लिखने की कृपा करें।

नीति-शतकम्

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।।१९।।

अन्वय – पुरुषं न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं न अलंकृताः मूर्धजाः न केयूराः न चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः विभूषयन्ति, एका वाणी या संस्कृता धार्यते, पुरुषं समलङ्करोति । भूषणानि खलु वाग्भूषणं सततं भूषणम् (अस्ति)॥

भावार्थ – मनुष्य न हाथों में बाजूबन्द, न गले में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हार, न स्नान करने, न चन्दनादि के लेप, न पुष्पमाला धारण और न ही केश सँवारने से विभूषित होता है; एकमात्र सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्य को भलीभाँति अलंकृत करती है । बाह्य आभूषणों का निश्चय ही क्रमशः क्षय होता रहता है, परन्तु वाणी रूपी आभूषण निरन्तर बना रहता है ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीनः पशुः ।।२०।।

अन्वयः – विद्या नाम नरस्य अधिकं रूपम् (च) प्रच्छन्नगुप्तं धनम् (अस्ति) । विद्या भोगकरी यशःसुखकरी, विद्या गुरूणां गुरुः, विदेशगमने विद्या बन्धुजनः, विद्या परा देवता, विद्या राजसु पूज्यते, तु धनं न, विद्याविहीनः पशुः ।

भावार्थ – विद्या मनुष्य का श्रेष्ठ रूप है, उसका छिपा हुआ धन है; विद्या भोग, यश तथा सुख प्रदान करनेवाली है; विद्या समस्त गुरुओं में श्रेष्ठ गुरु है; विदेशयात्रा के दौरान मित्रवत् साथ देती है; विद्या सर्वोच्च देवता है; राजाओं के बीच में धन का नहीं, अपितु विद्या का ही सम्मान होता है; विद्याहीन व्यक्ति पशु के समान है ।

– भर्तृहरि

वन्दना-गीति

– १ –

(गजल-कहरवा)

नहीं देती हमें दरशन, तू कैसी माँ हमारी है;
कुमाता है, नहीं तो क्यों, तनय को यूँ बिसारी है ।।

छिपी है तू इसी जग में, लगी रहती हमें ठगने;
बहुत मैं थक चुका हूँ माँ, मगर अन्याय जारी है ।।

विपद् में जी रहा हूँ मैं, अकथ दुख भी सहा हूँ मैं;
मगर सुख चैन से सोती, ये दुनिया मस्त सारी है ।।

अमिट भव की पिपासा है, निरर्थक सब तमाशा है;
जहाँ में जो भी मिल जाये, सभी कुछ खाकसारी है ।।

– २ –

(भैरवी-कहरवा)

अति दुर्बोध जननि तेरी माया ।
जीवन भर प्रयास कर हारा, तो भी समझ न पाया ।।

अद्भुत है भ्रमजाल तुम्हारा, फँसा हुआ है जीव बिचारा;
मार्ग खुला बाहर आने का, तदपि पड़ा लिपटाया ।।

सोचा था तन-मन है मेरा, बनना पड़ा इन्हीं का चेरा;
व्यर्थ विषय-भोगों ने मुझको, आजीवन भटकाया ।।

जो लगते थे अतिप्रिय अपने, बिछड़ गये ज्यों टूटे सपने;
किसको अब अपना समझूँ मैं, किसको कहूँ पराया ।।

जितना भी प्रयास मैं करता, उतना ही मैं और उलझता;
और उपाय 'विदेह' न पाकर, तव चरणों में आया ।।

– विदेह

सांस्कृतिक जीवन में चेतना

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओ से सम्बन्धित विचारों का एक संकलन बनाया था । यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारो को समझने मे काफी उपयोगी है तथा इसी कारण अत्यन्त लोकप्रिय भी हुआ है । 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

सांस्कृतिक एकता का संरक्षण

हम लोगों को अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपनी उन्नति करनी होगी । विदेशी संस्थाओं ने बलपूर्वक जो कृत्रिम प्रणाली हम पर थोपने की चेष्टा की है, तदनुसार काम करना वृथा है । वह असम्भव है । जय हो प्रभु! हम लोगों को तोड़-मरोड़कर नये सिरे से दूसरे राष्ट्रों के ढाँचे में गढ़ना असम्भव है । मैं दूसरी जातियों की सामाजिक प्रथाओं की निन्दा नहीं करता । वे उनके लिए अच्छी है, पर हमारे लिए नहीं । अन्य प्रकार के विज्ञान, अन्य प्रकार के परम्परागत संस्कार और अन्य प्रकार के आचारो से उनकी वर्तमान सामजिक प्रथाएँ गठित हुई हैं, पर हम लोगों के पीछे है, हमारे अपने परम्परागत संस्कार और हजारो वर्षो के कर्म । अतएव हमे स्वभावत: अपने संस्कारों के अनुसार चलना पड़ेगा; और हमें ऐसा ही करना होगा ।

हम पश्चिमी नही हो सकते, इसलिए पश्चिमवालों की नकल करना वृथा है । मान लो तुम पश्चिमवालों का पूरी तौर से अनुकरण करने में सफल भी हो गये, तो उसी समय तुम्हारा विनाश अनिवार्य है, फिर तुममे जीवन का लेश भी नही रह जायगा । काल की प्रारम्भिक अवस्था से निकलकर मनुष्य जाति के इतिहास में लाखो वर्षो से लगातार एक नदी बहती आ रही है । तुम क्या उसे रोककर और धकेलकर उसके उद्‌गम-स्थान हिमालय के हिमनद में वापस ले जाना चाहते हो? यदि यह सम्भव भी हो, तथापि तुम यूरोपियन नही हो सकते । यदि यूरोपियनो के लिए कुछ शताब्दियो की शिक्षा का संस्कार छोड़ना तुम असम्भव समझते हो, तो सैकड़ो गौरवशाली सदियो के संस्कार छोड़ना तुम्हारे लिए कैसे सम्भव है? नहीं, ऐसा कभी नही हो सकता । इसलिए भारत का यूरोपीयकरण एक असम्भव और मूर्खतापूर्ण कार्य है ।

भारत में हमारे मार्ग मे दो बड़ी रुकावटें हैं – एक ओर हमारा प्राचीन हिन्दू समाज और दूसरी ओर आर्वाचीन यूरोपीय सभ्यता । इन दोनो में यदि कोई मुझसे एक चुनने को कहे, तो मै प्राचीन हिन्दू समाज को पसन्द करूँगा, क्योकि अज्ञ होने पर भी, अपक्व होने पर भी कट्टर हिन्दुओं के हृदय में एक विश्वास है, एक बल है, जिससे वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है । पर विलायती रंग मे रँगा व्यक्ति सर्वथा मेरुदण्डविहीन होता है, वह इधर उधर के विभिन्न स्रोतों से वैसे ही एकत्र किये हुए अपरिपक्व, विशृंखल, बेमेल भावों की असन्तुलित राशि मात्र है । वह अपने पैरों पर खड़ा नही हो सकता, उसका सिर हमेशा चकराया करता है । वह जो कुछ करता है, क्या आप उसका कारण जानना चाहते हैं? अंग्रेजों से थोड़ी शाबाशी पा जाना ही उसके सब कार्यों का मूल प्रेरक है । वह जो समाज-सुधार करने में अग्रसर होता है, हमारी कितनी ही सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध तीव्र आक्रमण करता है, इसका मुख्य कारण यह है कि इसके लिए वह साहबों से वाहवाही पाता है । उसकी दृष्टि में हमारी कितनी ही सामाजिक प्रथाएँ इसीलिए दोषपूर्ण हैं कि साहब लोग ऐसा कहते हैं! मुझे ऐसे विचार पसन्द नहीं । चाहे जीवित रहो या मरो, अपने बल पर खड़े रहो । यदि दुनिया में कोई पाप है, तो वह है दुर्बलता । दुर्बलता ही मृत्यु है, दुर्बलता ही पाप है, अत: सब प्रकार की दुर्बलता का त्याग करो । ये असन्तुलित प्राणी अभी तक निश्चित व्यक्तित्व नही ग्रहण कर सके हैं; हम उन्हें क्या कहें – स्त्री, पुरुष या पशु! प्राचीन पथावलम्बी लोग कट्टर होने पर भी मनुष्य थे – उन सभी लोगों में एक दृढ़ता थी ।

अत: पूर्वोक्त दो प्रकार के आदमियों में एक तो ऐसे हैं, जिनमें हिन्दू जाति के जीवन की मूल शक्ति 'आध्यात्मिकता' मौजूद है । दूसरे पाश्चात्य सभ्यता के कितने ही नकली हीरा-जवाहर लेकर बैठे हैं, पर उनके भीतर जीवनप्रद शक्ति संचार करनेवाली वह आध्यात्मिकता नहीं है । दोनों की तुलना में मुझे विश्वास है कि सभी लोग एकमत से पहले के पक्षपाती होंगे; क्योकि उसी से उन्नति की कुछ आशा हो सकती है । जातीय मूलमंत्र उसके हृदय में जाग रहा है, वही उसका आधार है । उसके बचने की आशा है और शेष की मृत्यु निश्चित है । यदि किसी आदमी के मर्मस्थान में कोई आघात न लगे अर्थात् यदि उसका मर्मस्थान सुरक्षित है, तो उसके मृत्यु की कोई आशंका नहीं हो सकती । अत: भलीभाँति स्मरण रखो, यदि तुम धर्म को छोड़कर पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के पीछे दौड़ोगे, तो तीन पीढ़ियों में ही तुम्हारा अस्तित्व-लोप निश्चित है, क्योंकि इस प्रकार जाति का मेरुदण्ड ही टूट जायगा – जिस भित्ति के ऊपर यह विशाल जातीय भवन खड़ा है, वही नष्ट हो जायगा; फिर तो परिणाम सर्वनाश ही होगा ।

कोई भोग और ऐहिक सुख को ही परम पुरुषार्थ मानकर भारतवर्ष में उनका प्रचार करना चाहे, यदि कोई जड़-जगत् को ही भारतवासियों का ईश्वर कहने की धृष्टता करे, तो वह मिथ्यावादी है । इस पवित्र भारतभूमि में उसके लिए कोई जगह नहीं है, भारतवासी कभी उसकी बात नहीं सुनेंगे । पाश्चात्य सभ्यता मे चाहे कितनी ही चमक-दमक क्यों न हो, मैं इस सभा के बीच खड़ा होकर उनसे साफ साफ कह देता हूँ कि यह सब मिथ्या है – भ्रान्ति मात्र है । एकमात्र ईश्वर ही सत्य है, एकमात्र आत्मा ही सत्य है और एकमात्र धर्म ही सत्य है । इसी सत्य को पकड़े रहो ।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विस्तार

बाहर के देशों से सम्बन्ध जोड़े बिना हमारा काम नहीं चल सकता । किसी समय हम लोगों ने जो इसके विपरीत सोचा था, वह हमारी मूर्खता मात्र थी और उसी की सजा का फल है कि हजारों वर्षों से हम दासता के बन्धनों में बँध गये । ... हमें यथेष्ट सजा मिल चुकी है, अब हमें ऐसा नहीं करना चाहिए । भारत के बाहर जाना भारतीयों के लिए अनुचित है – इस प्रकार की वाहियात बातें बच्चों की ही हैं । उन्हें दिमाग से बिल्कुल निकाल फेंकनी चाहिए । जितना ही तुम भारत से बाहर अन्य देशों में घूमोगे, उतना ही तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा । यदि तुम पहले से ही – सदियों पूर्व से ही – ऐसा करते, तो तुम आज उन राष्ट्रों से पदाक्रान्त न होते, जिन्होंने तुम्हें दबाने की कोशिश की । जीवन का पहला और स्पष्ट लक्षण है विस्तार । अगर तुम जीवित रहना चाहते हो, तो तुम्हें विस्तार करना ही होगा । जिस क्षण से तुम्हारे जीवन का विस्तार बन्द हो जायगा, उसी क्षण से जान लेना कि मृत्यु ने तुम्हें घेर लिया है, विपत्तियाँ तुम्हारे सामने हैं ।

हमारी उन्नति के मार्ग में कुछ बाधाएँ हैं और उनमें प्रधान हमारी यह धारणा है कि संसार में हम प्रमुख जाति के हैं । मैं हृदय से भारत को प्यार करता हूँ, पूर्वजों पर मेरी आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति है, फिर भी मैं अपना यह विचार नहीं त्याग सकता कि संसार से हमें भी कुछ शिक्षा प्राप्त करनी है, शिक्षा-ग्रहाणार्थ हमें सबके पैरों तले बैठना चाहिए, क्योंकि सभी हमे महान् शिक्षा दे सकते हैं । हमारे श्रेष्ठ स्मृतिकार मनु की उक्ति है – नीच जातियों से भी श्रद्धा के साथ हितकारी विद्या ग्रहण करनी चाहिए और निम्नतम अन्त्यज से भी सेवा द्वारा श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए –

श्रद्दधानो शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।

अतएव यदि हम मनु की सच्ची सन्तान हैं, तो हमें उनके आदेशों का अवश्य ही पालन करना चाहिए और जो कोई हमें शिक्षा देने के योग्य है, उसी से ऐहिक तथा पारमार्थिक विषयों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

यूरोप के सभी भावों में मानो यूनान की प्रतिध्वनि सुनाई दे रही है, यहाँ तक की उसके हर मकान में, मकान के हर फर्नीचर में यूनान की ही छाप दीख पड़ती है । यूरोप के विज्ञान, शिल्प आदि सभी यूनान के ही प्रतिबिम्ब हैं । आज वही प्राचीन यूनान तथा प्राचीन हिन्दू भारतभूमि पर मिल रहे हैं । इस प्रकार धीर और नि:स्तब्ध भाव से एक परिवर्तन आ रहा है और आज हमारे चारों ओर जो उदार, जीवनप्रद पुनरुत्थान का आन्दोलन दिखाई दे रहा है, वह सब इन दोनों विभिन्न भागों के सम्मिलन का ही फल है । अब मानव जीवन से सम्बन्धित अधिक व्यापक और उदार धारणाएँ हमारे सम्मुख हैं । यद्यपि हम पहले कुछ भ्रम में पड़ गये थे और भावों को संकीर्ण करना चाहते थे, पर अब हम देखते हैं कि आजकल ये जो महान् भाव और जीवन की ऊँची धारणाएँ काम कर रही हैं, हमारे प्राचीन ग्रन्थों में लिखे हुए तत्त्वों की स्वाभाविक परिणति ही हैं । ये उन बातों का यथार्थ न्यायसंगत कार्यान्वयन मात्र है, जिनका हमारे पूर्वजों ने पहले ही प्रचार किया था । विशाल बनना, उदार बनना, क्रमश: सार्वभौम भाव में उपनीत होना – यही हमारा लक्ष्य है ।

पाश्चात्य देशों से हमें बहुत-कुछ सीखना बाकी है । हमें उनकी कलाएँ और विज्ञान सीखना होगा । ... शायद दूसरी जातियों से हमें भौतिक-विज्ञान सीखना पड़े । कैसे दल-संगठन और उसका परिचालन हो, किस प्रकार विभिन्न शक्तियों को नियमानुसार काम में लगाकर थोड़े यत्न से अधिक लाभ हो, आदि बातें अवश्य ही हमें दूसरों से सीखनी होंगी । पाश्चात्यों से हमें शायद ये बातें कुछ कुछ सीखनी ही होंगी ।

हम लोगों को यात्रा करनी होगी और विदेशों में जाना होगा । यदि वास्तव में हम अपने को एक सुसंगठित राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं, तो हमें यह जानना होगा कि दूसरे देशों में किस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था चल रही है और साथ ही उनके मनोभाव जानने के लिए हमें उन्मुक्त हृदय से दूसरे राष्ट्रों के साथ विचार-विनिमय करते रहना होगा । पहले अपने पैरों पर खड़े हो जाओ, फिर सब राष्ट्रों से, जो कुछ अपना सको, ले लो; जो कुछ अपने काम का है, ले लो ।

पर याद रखो कि हिन्दू होने के नाते हमको दूसरी सारी बातों को अपने राष्ट्रीय जीवन की मूल भावनाओं के अधीन रखना होगा । एक सच्चे हिन्दू के चरित्र का रहस्य इस बात में निहित है कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान, पद-अधिकार तथा यश को केवल एक सिद्धान्त – आध्यात्मिकता व जाति की पवित्रता के अधीन रखना है, जो हर हिन्दू बालक में जन्मजात है ।

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(अस्सीवाँ प्रवचन – उत्तरार्ध)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ में और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता मे 'कथामृत' पर बँगला मे जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर सात भागों में प्रकाशित हुए हैं । इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हें धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं । अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं । – सं.)

प्रतिमा में देवता का आरोप करते समय हम उसकी अपूर्णता को न देखकर, उसमें उन्हीं शुद्ध सत्ता, शुद्ध चैतन्य का आरोप करते हैं । आरोप करते समय हम जानते हैं कि यह प्रतिमा जड़ है, परन्तु हमारी दृष्टि जड़ नहीं है, बल्कि उसमें चित् सत्ता निहित है । इसी भाव से प्रतिमा में ईश्वर का दर्शन करना चाहिए । इसी प्रकार जब मनुष्य के भीतर भगवान को देखने का प्रयास किया जा रहा है, तब उसकी मानवीय अपूर्णताओं पर ध्यान न देकर, इस मानवरूप खोल के भीतर जो परमेश्वर विराजमान हैं, उन्हीं को देखना होगा । यही साधना है । जैसा कि ठाकुर ने देखा है और देखकर कहा है कि तकिये विभिन्न आकारों के होते हैं, परन्तु उनमें एक ही रूई भरी हुई रहती है ।

अब बंकिमचन्द्र ने उपमा दी है, "पतिव्रता-धर्म में पति देवता है ।" परन्तु केवल इतना जानने से ही ईश्वर-दर्शन नहीं हो जाता है । ऐसा होने से तो जिसमें आसक्ति प्रबल है, उसी को ईश्वर-दर्शन हो जाता । पति को ईश्वर-दृष्टि से देखने से ही नहीं हो जाएगा, दृष्टि को बिल्कुल भिन्न होना चाहिए । वह दृष्टि साधक की दृष्टि होगी । साधक की दृष्टि से देख पाने पर पातिव्रत्य के द्वारा भी हो सकता है । इस भेद को समझ लेना आवश्यक है ।

ठाकुर कहते हैं कि सर्वदा पुत्र की याद आने पर, उसी को गोपाल के रूप में सोचना । यह बात सुनकर मन को खूब जँच जाती है । जिसे खिला-पिला और नहला रही हूँ, उसे गोपाल सोच रही हूँ । परन्तु सचमुच ही सोच रही हूँ या नहीं, इस पर विचार करके देखना होगा । गोपाल के भीतर उनकी सत्ता का प्रकाश देखने पर उसके दोष-गुण दृष्टि में नहीं आयेंगे । ऐसी दृष्टि हो सकेगी क्या? नहीं तो ठीक ठीक गोपाल-दृष्टि नहीं आयेगी । इस पर खूब विचार करके स्मरण रखते हुए साधना करनी चाहिए, ताकि साधना के भीतर कपटता न रहे । कई बार हम लोग इस साधना की दुहाई देकर कपट भाव से अपने व्यवहार का समर्थन करते है । विचार किये बिना ही कहते रहते हैं – सबके द्वारा भगवान की ही सेवा कर रहा हूँ । अत्यन्त स्वार्थी देहात्म-सर्वस्व व्यक्ति भी ऐसी युक्ति दे सकता है कि यह जो मैं अपने को सजा-सँवार रहा हूँ, यह मेरे अन्दर जो नारायण हैं, उन्हीं के लिए कर रहा हूँ । एक कथा में है – एक व्यक्ति कहता है, "ब्राह्मणी! तुम्हें ब्राह्मण-भोजन कराने के लिए मेरे जैसा ब्राह्मण कहाँ मिलेगा?" वैसे तो यह बात हँसी में कही गयी है, परन्तु इसका तात्पर्य समझना होगा । मन के साथ चलाकी न करके सब साधना के भाव से करना होगा ।

ठाकुर ने जो कहा, "उन्हें बिना देखे इस तरह लीला-दर्शन नहीं होता ।" इस बात को खूब अच्छी तरह से स्मरण रखना होगा । साक्षात्कार का लक्षण है कि बालक जैसा स्वभाव हो जाता है, किसी चीज पर आसक्ति नहीं होती । इसके बाद वे कहते हैं, "यह दर्शन होना चाहिए । अब उनके दर्शन भी कैसे हों? तीव्र वैराग्य होना चाहिए । ऐसा चाहिए कि कहे – 'क्या? तुम जगत्पिता हो, मैं क्या संसार से अलग हूँ? मुझ पर क्या तुम दया न करोगे? – साला'!" यहाँ पर ठाकुर ने अपनी ही भाषा का उपयोग किया है ।

इसके बाद वे कहते हैं, "जो जिसका चिन्तन करता है, उसे उसी की सत्ता मिलती है । शिव की पूजा करने पर शिव की सत्ता मिलती है । श्रीरामचन्द्र जी का एक भक्त था । वह दिन-रात हनुमान की चिन्ता करता था । वह सोचता – मैं हनुमान हो गया हूँ । अन्त में उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि उसकी जरा-सी पूँछ भी निकली है ।"

जो लोग सर्वदा इसी प्रकार भगवान को सर्वत्र देखने का प्रयास कर रहे हैं, आरोपण कर रहे हैं, उनके अन्तर में परिवर्तन आयेगा और वे जिनकी उपासना कर रहे हैं, उनके स्वरूप को प्राप्त करेंगे । 'उपासना' शब्द की व्याख्या करते हुए शंकर कहते हैं – उपास्य के समीप रहकर उनका चिन्तन करते करते उसे भी उपास्य का स्वरूप प्राप्त होगा । ठाकुर ने भी कहा कि भ्रमर का चिन्तन करते करते झिंगुर भी भ्रमर हो जाता है ।

मनुष्य अपने स्वरूप से ईश्वर है, परन्तु उसके ऊपर एक विपरीत भाव आ पड़ा था । वह एक आवरण था । उस आवरण ने भगवत्सत्ता को ढँक दिया था । आरोप करते करते जब आवरण निकल गया, तब उसके भीतर चिर काल से विद्यमान ईश्वरीय या वास्तविक सत्ता प्रकट हो उठती है । इसी तरह मनुष्य को ईश्वर सोचते समय उसके ऊपर जो ईश्वर-भाव का आरोप किया जाता है, इसके फलस्वरूप उसके मानवरूप आवरण कभी खिसक जाता है और उसके अन्तर में निहित

ईश्वरीय सत्ता अभिव्यक्त हो जाती है । मनुष्य के भीतर उनका चिन्तन करने से यही फल होगा, इसी बात को उन्होंने स्पष्ट करके कहा है ।

इसके बाद ठाकुर कहते हैं, "जिसका हाथ बाप पकड़ता है, उसे फिर क्या भय है?" वह यदि आँख मूँदकर दौड़े, तो भी उसका पदस्खलन नहीं होता । उसे गिरने का भय नहीं है, क्योंकि भगवान उसे पकड़े हुए हैं । हम लोग जब उन्हें पकड़ते हैं, तो हो सकता है कि कभी हमारा हाथ ढीला भी पड़ जाय, परन्तु जब वे पकड़ते हैं, तो गिरने का भय नही रहता । वे कब पकड़ते हैं? जब हम स्वयं को उनके हाथों में सौंप देते हैं । हम सोच सकते हैं कि वे सभी को क्यों नहीं पकड़ लेते? इच्छा होने से ही तो वे ऐसा कर सकते हैं । परन्तु क्या हम लोगों ने स्वयं को उनके हाथों में छोड़ दिया है? जिस पुत्र ने स्वयं को बाप के हाथों में छोड़ दिया है, उसी को बाप जोर से पकड़े रहता है । लड़का यदि अनमना होकर हाथ छोड़ दे, तो वह गिर सकता है । जिसने स्वयं ही बाप का हाथ पकड़ रखा है, उसकी ओर बाप की उतनी दृष्टि नहीं रहती, क्योंकि उसने स्वयं ही पकड़ रखा है । तात्पर्य यह है कि पूरी पूरी निर्भरता आने पर भगवान उसका सारा भार ले लेते हैं, फिर उसका पतन नही होता । जैसा कि कहा गया है – **धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्नपतेदिह** (भागवत ११/२/३५) – आँखें मूँदकर दौड़ने पर भी उसका पदस्खलन नहीं होता । वही व्यक्ति इस प्रकार पूरी तौर से निश्चिन्त हो सकता है, जिसने स्वयं को पूरी तौर से भगवान के हाथों में सौंप दिया है । पूर्ण निर्भरता न होने पर थोड़ी कर्तृत्व-बुद्धि रह जाती है । अर्थात् मैं कर रहा हूँ, मैं उनका भक्त हूँ, मैं उनके आश्रय में हूँ – ऐसा भाव रहता है, परन्तु स्वयं को पूरी तौर से उनके हाथों में छोड़ देना होगा – ऐसी बुद्धि होने पर भगवान सारा भार ले लेते हैं ।

केदार (चॅटर्जी) इन दिनों ढाका में सरकारी नौकरी करते हैं । वे ठाकुर के परम भक्त हैं । ढाका में अनेक भक्त उनके पास आते हैं और उपदेश लेते हैं । उनके विषय में केदार कह रहे हैं, "मैंने उन लोगों से कह दिया है – मैं निश्चिन्त हूँ । मैंने कहा है – मुझ पर जिन्होंने कृपा की है, वे सब जानते हैं ।" अर्थात् जो लोग मेरे पास आते हैं, उन्हें मैं कल्याण के पथ पर चला पा रहा हूँ या नहीं, वे लोग जो आशा लेकर आ रहे हैं, उसे मैं पूरा कर पा रहा हूँ या नहीं, यह सब मैं नहीं जानता, वे अर्थात् ठाकुर जानते हैं । मैंने सारा भार उनके ऊपर छोड़ दिया है । ठाकुर हँसकर कहते हैं, "यह तो सच है, यहाँ बहुत तरह के आदमी आते हैं, वे अनेक प्रकार के भाव भी देखते हैं ।" यह ठाकुर के लिए ही सम्भव है । केदार किसी एक भाव को लेकर उसी में सिद्ध या उसके उच्च स्तर के साधक हैं, परन्तु उनके एक भाव के साधक होने पर भी उनके भीतर सभी भावों का विकास तो हुआ नहीं है । जो जिस किसी भी भाव को देखना चाहता है, उसे वह भाव ठाकुर के भीतर पूरी तौर से देखने को मिल जाता है ।

इसके बाद जब केदार ने कहा, "मुझे अनेक विषयों को जानने की जरूरत नहीं है ।" तो इस पर ठाकुर कहते हैं, "नहीं जी, जरा जरा-सा सब कुछ चाहिए ।" जो आचारी हैं, जो अनेक लोगों का अभाव पूरा करने के लिए, अनेक लोगों का मार्गदर्शन करने के लिए अपने को तैयार कर रहे हैं, उनमें समस्त भावों को समझने की सामर्थ्य होनी चाहिए । ऐसा न होने पर वे किस प्रकार दूसरों को ठीक पथ पर चलायेंगे? अवतारी पुरुषों के लिए यह जैसा सम्भव है, वैसा अन्य लोगों के लिए नहीं होता ।

अवतार और उच्च श्रेणी के साधकों के बीच यही पार्थक्य है । अवतारों में हर व्यक्ति को अपने अपने भाव का पूर्ण आदर्श देखने को मिल जाता है, जो अन्यत्र नहीं मिलता । यहाँ तक अवतारों में भी ठाकुर के समान इतने प्रकार के विविध जीवनादर्श देखने को नहीं मिलते । ये बातें उन्होंने केवल सिद्धान्त के रूप में या भावस्थ होकर नहीं कही, यह सब उनके द्वारा अनुभूत सत्य है । ठाकुर अनेकों बार अपने पिछले दिनों की, साधक काल की बातों का उल्लेख किया करते है । किसी के द्वारा अपनी समस्या बताने पर कहते – हाँ जी, मेरा भी वैसा ही होता था, तब मैंने ऐसा ऐसा किया था । ये बातें सुनकर व्यक्ति के मन साहस आता और वह निश्चिन्त हो जाता कि जब ठाकुर को स्वयं ही ऐसा हुआ है, तब वे जो उपदेश दे रहे हैं, वह मेरे लिए उपयोगी होगा । नहीं तो शास्त्र में तो बहुत-सी बातें कही गयी हैं, वे मेरे जीवन मे उपयोगी होंगी या नहीं, ऐसा संशय होता है । परन्तु ठाकुर जब अपनी निजी अनुभव की बात कहते हैं, तब उसका अलग फल होता है, मन के भीतर दृढ़ विश्वास का उदय होता है, फिर भ्रान्ति की सम्भावना नहीं रह जाती ।

इस विषय में शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि श्रुति, युक्ति तथा अनुभूति – इन तीनों को मिलाकर नि:सन्दिग्ध हुआ जाता है । श्रुति में जो सिद्धान्त है, वह युक्ति के द्वारा समर्थित और प्रत्यक्ष के द्वारा परीक्षित होती है । अब प्रत्यक्ष के बाद भी सन्देह रहता है या नहीं, इसके उत्तर में कहते हैं – थोड़ा-सा रहता है । समस्त अशुद्धियाँ जब तक दूर नहीं हो जाती, तब तक संशय रहता है । वैसे दिव्य अनुभूति के बाद संशय नहीं रह जाता, परन्तु कितने लोग वहाँ तक पहुँच सकते हैं? अत: साधारण साधकों को अनुभूति की परीक्षा कर लेनी पड़ती है, इसी हेतु श्रुति तथा युक्ति की आवश्यकता है, अन्यथा अपनी अनुभूति ठीक है या नहीं, यह कैसे प्रमाणित होगा? इसीलिए समस्त अनुभूतियों के परमकोष रूप जो शास्त्र हैं, उनमें अनेक साधकों द्वारा परीक्षित सत्यों का संग्रह है, उसके साथ मिला लेना पड़ता है । लीलाप्रसंग के लेखक ने इस पर विशद् रूप

से चर्चा की है । ठाकुर स्वयं ही इसी प्रकार बीच बीच में परीक्षा करके देख लेते थे ।

यह परीक्षा पूरी तौर से स्वयं को नि:संशय बनाने के लिए है । नही तो कई बार मन के झोंक में बिल्कुल असम्भव वस्तु भी दृढ़ सत्य जैसी प्रतीत होने लगती है, जैसा कि पागल या विकारग्रस्तो को होता है । इसी प्रकार एक व्यक्ति को कहते सुना गया था – देखो, आकाश के ऊपर सुन्दर बगीचा है । आकाश के भीतर उद्यान नहीं हो सकता – ऐसी अनुभूति के साथ उसकी जो असंगति है, यह बात उसके मन में नहीं उठती । हमारी अनुभूति उसी तरह के विकार के रोगी की अनुभूति है या नहीं, यह वह नहीं सोच सकता । इसीलिए नि:सन्दिग्ध होने के लिए दो उपाय बताए गये – युक्ति-विचार तथा श्रुति । अपने अनुभवों के बीच आपसी संगति है या नहीं – इसे देखने को विचार कहते हैं और दूसरा उपाय है यह देखना कि इसे श्रुति का समर्थन प्राप्त है या नहीं । फिर अनुभव के साथ शास्त्र को भी मिलाकर देख लेना पड़ता है । इसीलिये यह तीन चीजों पर निर्भर करता है – श्रुति, युक्ति तथा अनुभव । शुकदेव जन्म से ही सिद्ध थे, तो भी वे शिक्षा लेने के लिए जनक के पास गये थे । उनका उद्देश्य था – अनुभूति को सिद्धान्त के साथ मिलाकर देखना । पहले स्वयं नि:सन्दिग्ध होने के बाद दूसरों का सन्देह दूर करना होगा । तभी आचार्य हुआ जाता है ।

ठाकुर बताते हैं कि किसी विषयी के घर खाकर उनका शरीर अस्वस्थ हो गया है । इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना होगा कि हम साधारण लोग खाद्य-अखाद्य का विचार नहीं कर सकेंगे । अलौकिक शक्ति-सम्पन्न लोग ही इस स्पर्शदोष का अनुभव कर सकते हैं । ठाकुर ने एक बार एक व्यक्ति का दिया हुआ पीने का पानी हाथ में लिया, किन्तु उसे पी नहीं सके । वे उस व्यक्ति के विषय में कुछ जानते नही थे । ऐसी बात भी नहीं कि उस पर सन्देह होने के कारण न पीया हो, बल्कि पी ही न सके । स्वामी विवेकानन्द वहाँ उपस्थित थे । उनके पूछताछ करने पर पता लगा कि वह व्यक्ति धार्मिक के रूप में परिचित होने के बावजूद शुद्ध चरित्र का न था । दूसरी ओर ठाकुर इतने शुद्ध थे कि उनके लिए कुछ भी अशुद्ध ग्रहण कर पाना सम्भव नही था । सामान्य व्यक्ति इस स्पर्शदोष का तत्त्व समझ नहीं पाता, तथापि इसे लेकर अति कर देता है और व्यर्थ ही भेद की सृष्टि करता है । इसीलिए इस पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं । स्वामीजी का यही मत था ।

भाव का आश्रय लेकर साधना

एक भक्त का प्रश्न है, "ज्ञान के द्वारा क्या ईश्वर के गुण समझे जाते हैं?" ठाकुर का उत्तर है, "वे इस ज्ञान से नहीं समझे जाते ।" जिस ज्ञान के द्वारा हम जागतिक वस्तुओं को जानते है, उनकी सहायता से ईश्वर के गुणों को नहीं जाना जा सकता । "ऐसे ही क्या कोई उन्हें जान सकता है? साधना करनी चाहिए । एक बात और – किसी भाव का आश्रय लेना । जैसे दासभाव । ऋषियों का शान्तभाव था ।"

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ठाकुर ने सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भावों की बात न करके केवल दास्य तथा शान्त भावों की बात कही, क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिए इन्हीं दोनों भावों का आश्रय लेना सहज है । ऋषियों का शान्त भाव था । वे लोग किसी विशेष सम्पर्क का आश्रय न लेकर केवल 'वे सर्व-ऐश्वर्यशाली भगवान हैं और मैं उनका भक्त हूँ' – इस भाव से विषयासक्ति को छोड़कर भगवान की आराधना करते थे । दास्यभाव थोड़े और उच्च स्तर का है । इसमें भगवान स्वामी हैं और भक्त उनका दासानुदास है । इसमें भगवान के प्रति ममत्व-बोध रहता है । हनुमान का दास्य भाव था । इन सब भावों में भक्त की पृथक् सत्ता होती है, इसीलिए रसास्वादन हो पाता है । भक्ति के 'मैं' और विद्या के 'मैं' में कोई दोष नहीं है । ठाकुर की भाषा में, "मैं तो जानेवाला नहीं है, तो फिर रहे न 'भक्त-मैं', 'दास-मैं' होकर ।" शंकराचार्य ने लोक-शिक्षा देने के लिए विद्या का 'मैं' रखा था ।

सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भावों में भी भक्त घनिष्ठतापूर्वक भगवान का रसास्वादन करते हैं, परन्तु सामान्य लोगों के लिए उनका अनुसरण करना कठिन है । भगवान को मित्र समझकर स्वयं को उनकी बराबरी का समझना या स्वयं को प्रतिपालक तथा भगवान को शिशु समझना या उनकी प्रियतम के रूप में उपासना करना उच्च स्तर के साधकों के लिए ही सम्भव है । इसीलिए ठाकुर ने यहाँ पर उनका उल्लेख नहीं किया ।

इसके बाद ठाकुर उन भक्त से कहते हैं, "तुम्हारे दो भाव हैं – स्वरूप का चिन्तन करना भी है और सेव्य-सेवक का भाव भी है । क्यों, ठीक है या नहीं?" सम्भवत: ये भक्त स्वयं मास्टर महाशय ही हैं । उन्होंने अपने नाम के स्थान पर कहीं केवल भक्त और कहीं मणि कहकर उल्लेख किया है । ठाकुर पुन: हँसते हुए उनसे कहते हैं, "इसीलिए हाजरा कहता है – तुम मन की बातें सब समझ लेते हो । यह भाव कुछ बढ़ जाने पर होता है । प्रह्लाद को हुआ था ।" सबके मन की बातें समझकर उनकी सहयता करना और आजकल जिसे 'थॉट-रीडिग' कहते हैं – ये एक ही चीज नहीं है । वह एक उच्च अवस्था है, जिसका उल्लेख करते हुए ठाकुर ने कहा है – "तुम लोगों के भीतर का मैं सब कुछ देख पाता हूँ, जिस प्रकार काँच की आलमारी में चीजें रहने से दीख पड़ती हैं, उसी प्रकार ।" भक्तगण सुनकर शंकित तथा लज्जित हो जाते हैं । मन में ऐसे भावों को पोस करके रखा गया है, जिनके बाहर प्रकट हो जाने पर लज्जा आती है । बाहर में हम लोग

अपना भक्त के रूप में परिचय देते हैं, पर मन के भीतर क्या खौल रहा है, इस पर भी क्या हम कभी विचार करते हैं?

इसके बाद ठाकुर कहते हैं, "परन्तु उस भाव की साधना के लिए कर्म चाहिए" – इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरों का मनोभाव समझने के लिए साधना करनी होगी । वह तो सिद्धियों की बात है । वास्तविक साधक भक्त उन्हें नहीं चाहता । काफी साधना के फलस्वरूप उन लोगों में कुछ शक्तियाँ अपने आप ही प्रकट होती है । ठाकुर यहाँ बताना चाहते हैं कि ये शक्तियाँ हानिकारक नहीं हैं, बल्कि जगत् के कल्याण-कार्य में उपयोगी हो सकती हैं ।

तितिक्षा और स्थितधी अवस्था में भेद

अब ठाकुर कहते हैं – एक आदमी के हाथ में बेर का काँटा चुभ जाने से टप टप खून गिर रहा है, परन्तु वह मुख से कहता है कि मुझे कुछ नहीं हुआ है । "पूछने पर कहता है, मैं खूब अच्छा हूँ । मुझे कुछ नहीं हुआ । पर यह बात केवल जबान से कहने से क्या होगा? भाव की साधना होनी चाहिए ।" बहुत से लोग कहते हैं कि सुख-दु:ख आदि तुच्छ हैं, परन्तु कितने लोगों में दु:ख-सुख के प्रति निस्पृहता होती है । जी कड़ा करके कष्ट सहन करते जाना – यह सुख-दु:ख में 'समभाव' की अवस्था नहीं है । छान्दोग्य उपनिषद् (८.१२.१) में कहा है – देहधारी के शरीर में जो 'मैं'-बोध है, उसे इस सुख-दु:ख के हाथ से छुटकारा नहीं मिल सकता –

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।।

– सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय तथा अप्रिय से ग्रस्त रहता है । अत: सशरीर रहते हुए के इष्ट-अनिष्ट का नाश सर्वथा हो नहीं सकता, इसके विपरीत अशरीर होने पर प्रिय और अप्रिय इसे स्पर्श नहीं करते ।

देहाभिमान से रहित व्यक्ति के लिए न कुछ प्रिय है और न अप्रिय । गीता (९/२९) में भगवान कहते हैं – **न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः** – मेरा कोई अप्रिय भी नहीं और प्रिय भी नहीं । उनके लिए कुछ भी इष्ट या अनिष्ट नहीं है । इस विषय में वे निर्लिप्त हैं, क्योंकि वे 'अशरीर' – देहाभिमान से रहित हैं । अत: देहाभिमान से रहित व्यक्ति ही कह सकते हैं कि सुख-दु:ख कुछ भी नहीं है । बाकी लोग जो कहते हैं, वह तो केवल कहने की बात है । अभ्यासवश लोग कहते हैं कि संसार में सब माया है, परन्तु एक काँटा चुभते ही 'उफ' कर उठते हैं । पीड़ा को माया कहकर उसे नजरन्दाज नहीं कर पाते । इसीलिए भगवान अर्जुन को यह सब निर्विकार भाव से सह जाने को कहते हैं –

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। २/१४

– इन्द्रियों के साथ विषयों के संयोग से ही सुख-दु:ख का अनुभव होता है । और विचार करने पर समझ में आता है कि ये 'आगम-अपायी' अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशील और इस कारण अनित्य हैं । कोई भी सुख-दु:ख स्थायी नहीं होता ।

भगवान जो सहन करने को कह रहे हैं, उसका तात्पर्य लड़ाई के मैदान में जैसे सैनिक पीड़ा सहन करते हैं, वैसा नहीं है । उनका कहना है कि इनके द्वारा विचलित मत होना । अपना सन्तुलन खोये बिना स्वयं को इस सबके अतीत शुद्ध आत्मा के रूप में जानना – यही साधना का लक्ष्य है । गीता (२/५६) में वे और भी कहते हैं –

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।

– जो समस्त दु:खों में उद्वेगरहित हैं, सभी प्रकार के सुखों में स्पृहारहित हैं और जिनसे आसक्ति-भय-क्रोध दूर हो गया है, उन्हीं को स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं ।

स्थितधी उन्हें कहते हैं, जिनकी बुद्धि तत्त्व में प्रतिष्ठित हो गयी हो । जब मनुष्य यह समझ सकेगा कि देह-इन्द्रिय आदि 'मैं' नहीं है, तब वह दु:ख में विचलित नहीं होगा और सुख के लिए आकाक्षा नहीं करेगा । वह केवल इतना जान लेगा कि इस सबसे मेरी कोई लाभ-हानि नहीं हो रही है –

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन प्रदह्यते ।
(महाभारत, शान्ति. १९)

जनक कहते हैं – समग्र मिथिला जलकर राख हो जाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं आत्मा हूँ, विदेह हूँ । आपात दृष्टि से ऐसा लगेगा कि तब तो वे पाषाण के समान निर्मम हैं, परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है । ज्ञानी व्यक्ति भी जगत् के साथ व्यवहार करते समय किसी अन्य प्रकार की सत्ता का आश्रय लेकर व्यवहार करते हैं । इस व्यवहार के समय वे निर्मम नहीं, अपितु परम करुणासम्पन्न होते हैं । निर्लिप्त होकर भी वे कर्म किये जा रहे हैं – **वर्त एव च कर्मणि** । परन्तु उनमें यह बोध रहता है कि 'मैं कुछ नहीं करता' जैसा कि गीता (१८/१७) में ही कहा गया है –

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

– जिनकी बुद्धि इन देह-इन्द्रिय आदि में लिप्त नहीं होती, वे समग्र जगत् का विनाश करके भी विनाशक नहीं होते, क्योंकि वे अपने को कर्ता नहीं समझते । यह भाव अत्यन्त उच्च स्तर का है, समान्य लोगों के लिए सहज-साध्य नहीं है । इसके लिए साधना करनी होगी । ठाकुर ने कहा है – किसी एक भाव का आश्रय लेकर क्रमश: आगे बढ़ना होगा और जब हम उस परम तत्त्व तक पहुँचेंगे, तभी कह सकेंगे कि मैं इन सबसे निर्लिप्त हूँ, उसके पहले नहीं । ❖ (क्रमश:) ❖

मानस-रोगों से मुक्ति (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन चालीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

मुनियों ने मनु से कहा कि आप तीर्थयात्रा कीजिए। महाराज मनु तो राजा के रूप में पहले भी तीर्थयात्रा कर चुके हैं, परन्तु तीर्थयात्रा दो प्रकार से की जाती हैं। एक तो व्यक्ति जब घर-परिवार में रहते हुए तीर्थयात्रा करता है, तब धर्म, पुण्य और स्वर्ग की उपलब्धि ही उसका उद्देश्य होता है। परन्तु अब उन्हें क्या पाने की इच्छा है? अब प्राप्ति की इच्छा और बढ़ गई है। अब वे पुन: तीर्थयात्रा कर रहे हैं और उद्देश्य है अन्त:करण की शुद्धि और ईश्वर की प्राप्ति –

जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए।
मुनिन्ह सकल सादर करवाए।।
कृस सरीर मुनि पट परिधाना।
सत समाज नित सुनहिं पुराना।। १/१४३/७-८

अब साधना का क्रम आरम्भ हुआ। वे श्रद्धापूर्वक तीर्थाटन, सन्तों का संग करते हैं और सन्त-समाज में बैठकर पुराणों की कथा सुनते हैं। जैसा कि पहले कहा गया – वे तीर्थयात्रा भी पहले कर चुके हैं, कथा भी पहले सुन चुके होंगे, लेकिन एक अन्तर तो आ ही जाता है! 'भागवत-कथा-सप्ताह' के साथ जो परीक्षित की बात जोड़ दी गई है, इसका अभिप्राय क्या है? श्रीमद्भागवत की कथा तो देश के सभी प्रान्तों, नगरों तथा गाँवों में होती है। लोग बड़ी श्रद्धा एवं उत्साह से सुनते हैं, बड़ा रस और आनन्द लेते हैं; पर उस कथा का मूल तत्त्व क्या है? उस कथा के अनेक वक्ता और श्रोता हैं, पर एक श्रोता हैं परीक्षित। इसका अभिप्राय यह है कि परीक्षित को शाप मिल चुका है कि सातवें दिन उनकी मृत्यु हो जायगी। जिनके जीवन के केवल सात ही दिन शेष हैं, उनके कथा सुनने में अन्तर पड़ जायगा न! एक तो वह व्यक्ति सुनने बैठा है, जिसे यह चिन्ता लगी हुई है कि कथा के बाद क्या क्या करना है? अधिकांश लोगों की तो यही दशा है। सोचते रहते हैं कि पहले भी क्या क्या काम छोड़कर आए हैं और बाद में भी क्या क्या करना है? कई लोग तो कथा में बैठे हुए भी योजनाएँ बनाते रहते हैं कि इसके बाद यह करना है। लेकिन जिसके जीवन के केवल सात दिन शेष हैं, सातवें दिन मृत्यु निश्चित है, वह क्या भविष्य की योजना बनाएगा? उसे तो अब केवल मोक्ष पाना है, भगवान को ही पाना है। इसका अभिप्राय यह है कि अब उसके अन्त:करण में कथा सुनने की जो वृत्ति है, अब वह कथा को जिस अर्थ में ग्रहण करेगा, वह साधारण व्यक्ति नहीं कर सकेगा। कथा सुनने से लाभ तो होगा, परन्तु वह लाभ उसे नहीं मिलेगा।

कथा को कोई मन के स्तर पर सुनता है, कोई बुद्धि के स्तर पर और कोई चित्त के स्तर पर। जो मन के स्तर पर सुनता है, उसे मनोरंजन का आनन्द मिलता है –

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।। ७/५३/४

जो बुद्धि के स्तर पर सुनता है, उसे साधना की प्रेरणा मिलती है और जो चित्त के स्तर पर सुनता है, उसका कथा से तादात्म्य हो जाता है। सुनते सुनते वह कथा का एक पात्र बन जाता है। इन तीनों स्तरों का रामायण में अलग अलग वर्णन है। यहाँ पर मनु के सन्दर्भ उसका केवल संकेत ही दिया जा रहा है। मनु ने गोमती मे स्नान किया, तीर्थ किया, पुराणों की कथा सुनी और उसके बाद वर्णन आता है कि उन्होंने मंत्र लिया। कौन-सा मंत्र मिला? द्वादस-अक्षर-मंत्र है – ॐ नमो भगवते वासुदेवाय –

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग।।१/१४३

अब यहाँ पर जो विशेष रूप से राम-भक्ति के आग्रही हैं, उन्हें यह सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है कि मनु जब राम को पाना चाहते थे, तो उन्होंने वासुदेव-मंत्र क्यों लिया? उनकी धारणा है कि वासुदेव माने कृष्ण। अत: उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगती और कई व्याख्याताओं ने तो इसका अर्थ ही बदल दिया। जहाँ सम्प्रदाय का आग्रह होता है, वहाँ पर इस प्रकार से अर्थ बदलने की प्रवृत्ति भी होती है। उस परम्परा के लोगों का कहना है कि द्वादस अक्षर माने छह अक्षर का मंत्र भगवान राम का और छह अक्षर का मंत्र श्री सीताजी का – यही द्वादश-अक्षर-मंत्र है। मानो मनु ने इसी मंत्र का जप किया। पर नहीं, इतना आग्रह भी ठीक नहीं। यदि किसी को इसी से सन्तोष होता है, तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। सीताराम-मंत्र दिव्य चिन्मय मंत्र है, उसको लिया तो कोई बात नही, परन्तु यहाँ तो साधना का क्रम बताया जा रहा है। अभी राम-सीता तक तो बात पहुँची ही नहीं है। अभी तो निराकार से साकार की ओर बढ़ने का क्रम चल रहा है।

वासुदेव का एक प्रचलित अर्थ तो यह है कि जो वसुदेव के पुत्र कृष्ण हैं, वे ही वासुदेव हैं। पर वासुदेव का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है – **वासे वासे तिष्ठति** – जो सर्वत्र निवास करता है, जो सर्वव्यापी है, वह वासुदेव है। मनु ने वासुदेव-मंत्र लेकर साधना प्रारम्भ की, इसका अभिप्राय यह है कि उस सर्वव्यापी ईश्वर का स्वरूप क्या है, इसका अभी निश्चय नहीं हुआ है। अभी उनके मन में ईश्वर के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा है। 'रूप' के साथ 'स्व' जोड़ दिया गया। इसके अर्थ पर क्या आपने विचार किया? 'स्वरूप' माने भगवान के जैसा रूप और 'रूप' माने जिस रूप में हम उनको चाहते हैं। दोनों बातें ठीक हैं। स्वरूप को रूप में बदलने की जो प्रक्रिया है, वही अवतारवाद है। यही निर्गुण से सगुण होने की प्रक्रिया है। मनु ने सत्संग करके, सुन करके यह अनुभव किया कि ईश्वर सर्वव्यापी है, वासुदेव है, इसलिए साधना के लिए उन्होंने वासुदेव-मंत्र को ग्रहण किया और जप करने लगे। तब आगे चलकर उनके मन में निर्गुण और सगुण का प्रश्न उठा। उनके मन में आया कि वासुदेव सर्वव्यापी और सर्वनिवासी हैं, परन्तु निराकार हैं। अब उन निर्गुण-निराकार का दर्शन कैसे होगा? दर्शन तो रूप का होता है, रूप के बिना दर्शन कैसे होगा? शास्त्रों में तो लिखा है –

अगुन अखंड अनंत अनादी।
जेहि चिंतहिं परमारथबादी।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा।
निजानंद निरुपाधि अनूपा।। १/१४४/४-५

वेदों ने ब्रह्म का परिचय दिया – न इति। जिस तरह से संसार की वस्तुओं का वर्णन किया जाता है कि यह वस्तु ऐसी है, उस तरह से ईश्वर के विषय में दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर ऐसा है। लेकिन मनु ने बड़ी मधुर बात कही और वह बात समझने योग्य है। क्या? जैसे बालक और पिता का सम्बन्ध। विचार करके देखिये – एक व्यक्ति महान् पण्डित, बुद्धिमान तथा ऐश्वर्यवान है, उसमें अनेक प्रकार की योग्यताएँ हैं। उसका एक नन्हा सा पुत्र है। उस बच्चे की दृष्टि में पिता का क्या रूप है? दो रूप हो सकते हैं। एक तो यह कि वह पिता की योग्यताओं को, सामर्थ्य को जाने, पर उसके लिए समय लगेगा। ज्यों ज्यों बालक बड़ा होगा, त्यों त्यों पिता की विशेषताएँ उसकी समझ में आने लगेंगी। लेकिन बच्चों का एक स्वभाव आपने देखा होगा कि वह बड़े भोलेपन से अपने पिता से कह देता है – पिताजी, आप जरा-सा घोड़ा बन जाइए। पिता की विशेषता क्या है? उसकी सारी योग्यता, सामर्थ्य ज्यों की त्यों है, पर बालक के प्रति उसके मन में इतना स्नेह है कि उससे प्रेरित होकर, उसके कहने पर वह तत्काल घोड़ा बन जाता है और बालक उसके पीठ पर सवार हो जाता है। अब यहाँ पर भले ही पिता की योग्यता असन्दिग्ध हो, पर उसका घोड़ा बनकर बालक को उपने पीठ पर बिठा लेना भी सत्य है। मनु ने भी यही बात कही। वे एक समन्वय की स्थिति में पहुँचे। मनु ने कहा –

अगुन अखंड अनंत अनादी।
जेहि चिंतहिं परमारथबादी।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा।
निजानंद निरुपाधि अनूपा।।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना।
उपजहिं जासु अंस तें नाना।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।
भगत हेतु लीलातनु गहई।। १/१४४/४-७

वे भगवान चाहे जैसे भी हों, पर एक पिता जैसे स्वतन्त्र होते हुए भी बालक के प्रेम के कारण उसके वश में है, वैसे ही ब्रह्म भी भक्त के वश में हैं। भगवान से जैसा रूप बनाने को भक्त कहता है, वे वैसा ही रूप बना लेते हैं। गोस्वामी जी ने सारा झगड़ा ही मिटा दिया। भगवान का रूप क्या है? नाटक में कभी राम, कभी कृष्ण और कभी शिव का अभिनय करनेवाले अभिनेता से किसी ने पूछा, "आप कौन हैं; राम हैं, या कृष्ण हैं या शिव?" उसने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। बोला, "भाई, हम तो अभिनेता हैं; जिस नाटक में हमें जो बना दिया जाता है, हम वही बन जाते हैं। यह तो नाटकवाला जाने कि वह हमें किस रूप में देखना चाहता है।"

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भी जो प्रश्न है, उसका यही उत्तर रामायण में दिया गया है। गोस्वामी जी ने कहा –

जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ।।७/७२/ख

अभिनेता तो वही भाव दिखा देता है, जो भूमिका उसे दी जाती है, पर ईश्वर की विलक्षणता यह है कि वह दोनों भाव एक साथ दिखा देता है। बाहर से भूमिका का भाव दिखा देता है, पर भीतर से वह कुछ और होता है। दोनों एक साथ जुड़ा हुआ है। मनु भी यही कहते हैं – महाराज, ऐसी परिस्थिति में जब यह पता चल जाय कि ईश्वर ऐसे हैं, तब भी हम आपके स्वरूप का पता लगाने में उलझे रहें कि ईश्वर कैसे हैं; इसके स्थान पर हम उनसे प्रार्थना करें कि हमें इस प्रकार के ईश्वर की आवश्यकता है, हमें इस प्रकार का ईश्वर चाहिए।

मनु की साधना आरम्भ हुई। उन्होंने प्रकृति के सारे पदार्थों पर विजय प्राप्त कर ली। उनकी भगवान को पाने की अभिलाषा बढ़ती गई। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर आये, परन्तु उनको सन्तोष नहीं हुआ। कुछ लोग तो इसका यह अर्थ लेते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और शंकर छोटे थे, इसीलिए उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। ऐसी बात बिल्कुल नहीं है। यहाँ छोटे-बड़े का तो प्रश्न ही नहीं है। इसका तात्पर्य तो केवल इतना है कि जो विष्णु के रूप में भगवान को देखना चाहता है, उसके लिए

भगवान का वही रूप श्रेष्ठ है और जो भगवान को शिव के रूप में देखना चाहते हैं, उनके लिए वही रूप श्रेष्ठ है। परन्तु मनु को उस रूप से सन्तोष नहीं हुआ।

भक्त बिल्वमंगल जी और गोस्वामी तुलसीदास जी की वह प्रसिद्ध गाथा तो आपने सुनी होगी। बिल्वमंगल जी भगवान श्रीकृष्ण के बड़े रसिक भक्त थे। एक बार वे भगवान राम के मन्दिर में जा पहुँचे। उनको भगवान बड़े सुन्दर लगे। उन्होंने प्रणाम किया और भगवान से कह दिया कि सब तो बड़ा सुन्दर है, परन्तु धनुष-बाण के स्थान पर आपके हाथ में यदि वंशी होती, तो आप और भी सुन्दर लगते। कहते ही उन्होंने देखा कि प्रभु के हाथों में वंशी है। इसी तरह एक बार गोस्वामी जी वृन्दावन गये, तो वहाँ भगवान श्रीकृष्ण के मन्दिर में दर्शन करने गये। आजकल यह प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है कि हम राम के भक्त हैं, तो कृष्ण को प्रणाम न करें और कृष्ण के भक्त हैं तो राम को प्रणाम न करें, क्योंकि इससे हमारी अनन्यता चली जायेगी। लोग गोस्वामी जी का प्रमाण भी देते हैं। पर गोस्वामी जी जब मन्दिर में गये, तो क्या उन्हें पता नहीं था कि वह श्रीकृष्ण की लीलाभूमि है? उन्हें ज्ञात था कि वे अयोध्या नही, श्रीकृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन में आये हैं। जब वे मन्दिर में दर्शन करने जा रहे थे, तो उन्हें भलीभाँति पता कि वह भगवान श्रीकृष्ण का मन्दिर है। यदि वे सचमुच ही भेद मानते होते, तो न वे वृन्दावन और न ही श्रीकृष्ण के मन्दिर में जाते। पर यह बात उठी कैसे? गोस्वामी जी जब दर्शन करने हेतु मन्दिर में पहुँचे, तो वहाँ एक आग्रही व्यक्ति था। उसने गोस्वामी जी को श्रीकृष्ण-मन्दिर में देखकर उन पर आक्षेप किया। बड़ा प्रसिद्ध दोहा है –

अपने अपने इष्ट को नमन करै सब कोय।
परसुराम जो आन को नवै सो मुरख होय ।।

जो अपने इष्टदेव को प्रणाम करता है, वह प्रसंशनीय है और जो दूसरे के इष्टदेव को प्रणाम करता है, वह मूर्ख है। इसके उत्तर में गोस्वामी जी ने जो दोहा कहा, वह इस दोहे की भूल को दूर करने के लिए है। वे बताना चाहते थे कि तुम्हें यह भ्रम हो रहा है कि ये तुम्हारे ही इष्टदेव हैं; अब मैं तुम्हें यह बता देना चाहता हूँ कि वस्तुत: ये हमारे ही इष्टदेव हैं। वे ही कभी हाथ में वंशी और कभी धनुष-बाण ले लेते हैं। जो जिस रूप मे देखना चाहता है, उसके लिए वे उसी रूप में प्रकट हो जाते हैं। इसीलिए वे उनके अपने इस एकत्व को दिखाने के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ? यही कि गोस्वामी जी तो दोनों को एक ही मानते हैं, परन्तु जैसे कभी यदि माता-पिता में मतभेद हो जाय कि बालक को लाल रंग का कपड़ा पहनाया जाय कि पीले रंग का, तो यह तो अपनी अपनी पसन्द है, किसी को लाल रंग अच्छा लगता है, तो किसी को पीला। वे बालक को अपनी अपनी भावना के अनुरूप सजा लेंगे, परन्तु इससे बालक में कोई भेद थोड़े ही आ जाता है? ईश्वर वही है, पर कहीं वे वंशी के स्थान पर धनुष ले लेते हैं और कहीं धनुष के स्थान पर वंशी। भक्त जैसा चाहता है, वैसा ही वे करते हैं। जो उन्हें शिव के रूप में देखना चाहते हैं, उन्हें वे शिव के रूप में और जो विष्णु के रूप में देखना चाहते हैं, उन्हें विष्णु के रूप में दर्शन देते हैं। मनु के मन में आग्रह था कि नहीं, मुझे तो निराकार को साकार बनाना है। मूल सूत्र यही है। केवल निराकार से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। सन्तोष नहीं हुआ, तो साधना बढ़ी। तब? तब आकाशवाणी हुई – माँगो माँगो, क्या चाहते हो –

मागु मागु बरु भै नभ बानी।
परम गभीर कृपामृत सानी ।। १/१४५/६

मनु को आश्चर्य हुआ – कौन बोल रहा है? कोई बोलता है, तो सामने आकर बोलता है, पर यहाँ तो कोई दिखाई नहीं दे रहा है। अब प्रश्न यह है कि भगवान अगर साकार रूप में प्रकट हो जाते, तो भी मनु को सन्तोष नहीं होता। वे तो भगवान को निराकार माने बैठे हैं। उनका तो आग्रह है कि निराकार भगवान को साकार बनाना है। यदि भगवान पहले से ही साकार रूप में आयेंगे, तो ये उन्हें फिर लौटा देंगे कि आप पूरे भगवान नहीं हैं। इसलिए भगवान्‌ ने कहा – भाई, अब तुम्हीं बताओ कि तुम कैसा भगवान चाहते हो? तुम मुझे जिस रूप में देखना चाहते हो, मैं वही रूप बनाकर तुम्हारे सामने आऊँगा। तब मनु ने कहा – महाराज, आप तो कल्पतरु हैं –

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। १/१४६/१

अभिप्राय यह है कि जिस वृक्ष से आम का फल मिलता है, वह आम का वृक्ष है; जिस वृक्ष से केले का फल मिलता है, वह केले का और जिस वृक्ष से सन्तरे का फल मिलता है, वह सन्तरे का है, परन्तु कोई वृक्ष यदि ऐसा हो, जिससे आम भी मिले और सन्तरा भी मिले, तो समझ लेना चाहिए कि वह साधारण वृक्ष नहीं, वह तो कल्पवृक्ष ही होगा। जिसने जो चाहा उसे वही मिला। ईश्वर कल्पतरु हैं। उसके बाद मनु ने प्रभु को बताया कि वे उन्हें किस रूप में पाना चाहते हैं –

जो स्वरूप बस सिव मन माहीं।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ।।
जो भुसुंडि मन मानस हंसा।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ।। १/१४६/४-६

– जो रूप शिवजी के मन में बसता है, जिसे पाने हेतु मुनि लोग प्रयत्न करते हैं, जो काकभुशुण्डि के मनरूपी सरोवर में विहार करनेवाला हंस है, जिसकी सगुण और निर्गुण कहकर वेद प्रशंसा करते हैं, हे शरणागत के दु:ख मोचन करनेवाले प्रभो, ऐसी कृपा कीजिए कि मैं उस रूप को नेत्र भरकर देखूँ।

मनु ने अपनी प्रार्थना में रूप और अरूप – दोनों का समन्वय कर दिया । फिर भक्तवत्सल, कृपानिधान और पूरे विश्व-ब्रह्माण्ड के निवासस्थान भगवान प्रकट हो गये –

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना ।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना ।। १/१४६/८

कहाँ से आए भगवान? वे तो सर्वव्यापी हैं । मनु ने जिस रूप में देखना चाहा, उस रूप में प्रगट हो गये, परन्तु विस्तार आगे बढ़ता गया । भगवान बोले – अब क्या चाहते हो? बोले – प्रभो, दर्शन तो हो गया, पर अब इच्छा हो रही है कि हम आपको अपना पुत्र बना लें । – ठीक है, चलो, तुम्हारा पुत्र भी बन जाते हैं । भक्त की माँगें बढ़ती गयीं । उसे 'मानस' के क्रम की दृष्टि से कहा गया – पहले कर्म, इसके पश्चात् ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान और ज्ञान के बाद अन्त:करण में भक्ति-वृत्ति का उदय । ईश्वर को जान लेने के बाद हम उसे कौन-सा रूप देना चाहते हैं, किस रूप में पाना चाहते हैं, किस रूप में रस लेना चाहते हैं – यह भक्ति के द्वारा होता है । भक्त की भावना को पूर्ण करने हेतु तब वह निराकार ईश्वर साकार बन जाता है और तदनुसार लीला करता है । इसमें एक बात बड़े महत्व की है और वही मूल सूत्र है । क्या? भक्त ने जैसा चाहा, भगवान वैसे ही बन गये, पर किससे बने हुए हैं? यहाँ पर गोस्वामी जी ने बाल्मीकि जी से थोड़ी अलग बात कही है और दोनों में अलग अलग रस है । वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि भगवान राम जब वाल्मीकि जी के आश्रम में गये तो, उन्होंने हाथ जोड़कर कहा – राम, तुम्हारे शरीर को देखकर तो लगता है कि तुम साधारण पार्थिव पदार्थों से बने हुए हो, पर मैं जानता हूँ कि ईश्वर जिस शरीर में अवतार लेता है, वह पार्थिव नही होता । कौन-सा शरीर होता है? बताते हैं –

चिदानन्दमय देह तुम्हारी ।
बिगत बिकार जान अधिकारी ।। २/१२७/५

आपका यह शरीर चिदानन्दमय है । आप केवल आत्मा के रूप में ही चिदानन्द नही हैं, आत्मा के रूप में तो सभी लोग सच्चिदानन्द हैं, परन्तु अवतार केवल आत्मा की दृष्टि से नहीं, शरीर की दृष्टि से भी सच्चिदानन्द होते हैं । और इसके साथ उन्होंने वह सूत्र भी जोड़ दिया – जो अधिकारी हैं वे ही जान पाते हैं कि ईश्वर का शरीर भी सच्चिदानन्द स्वरूप है । मनुष्यों का शरीर पंचतत्त्व से बना है, देवताओं का शरीर तेजस् तत्त्व से बना हुआ है और अवतार का शरीर सच्चिदानन्द-मय है । वाल्मीकि जी ने कहा कि भगवान सच्चिदानन्दमय हैं और गोस्वामी जी ने? कहते हैं कि वाल्मीकि जी ही तुलसीदास जी के रूप में आये थे । गोस्वामी जी को एक नयी धातु का पता लगा । उनसे पूछा गया कि क्या आपको पता लगा कि राम का शरीर किस तत्त्व का बना हुआ है? वे बोले – हाँ, मैं तो यही पता लगाता रहा कि ईश्वर किस धातु से बना है । गोस्वामी जी ने जो पता लगाया, वह वेदान्तियों, ऋषि-मुनियों तथा अन्य लोगों ने जो पता लगाया, उससे थोड़ा भिन्न है । उन्होंने 'विनय-पत्रिका' के एक पद में अपनी समस्याओं, दुर्बलताओं, दुर्गुणों तथा मन के रोगों का बड़े विस्तार से वर्णन किया । वहाँ पर उन्होंने बताया है कि मेरे जीवन में क्या क्या कमी, क्या क्या दोष हैं । कमियों और दोषों का वर्णन दो प्रकार से होता है । जब हम किसी वैद्य या डॉक्टर के पास जाते हैं, तो उन्हें अपने रोगों के बारे में बताते हैं या अपने गुणों के बारे में! बस यही महत्व का प्रश्न है । यदि कोई व्यक्ति डॉक्टर के पास जाकर यह कहे कि मैं करोड़पति हूँ, मैं अमुम हूँ, तमुक हूँ, तो डॉक्टर या वैद्य कहेगा कि यहाँ क्यों आये हो? डॉक्टर के पास जाकर तो यही बताना चाहिए कि क्या रोग हुआ है, क्या तकलीफ है । यह बताने से क्या लाभ कि मैं इतना धनी हूँ, इतना बड़ा पण्डित हूँ । रोगी का तो यही कर्तव्य है कि वह वैद्य का अपना रोग बताये, नि:संकोच होकर बताये और यह स्वीकार करे कि मैंने ऐसा कुपथ्य किया, ऐसी भूल की, जिससे यह रोग हुआ है । रोगी वैद्य से यही कहता है कि मैं रोगी हूँ और बहुत बड़ी आशा लेकर आया हूँ; सुना है कि आप अत्यन्त असाध्य रोगों को भी ठीक कर देते हैं, मुझे भी स्वस्थ बना दीजिए । और सचमुच ही चिकित्सक यदि योग्य है, तो वह औषधि देकर रोग दूर कर देता है । यही बात मन के सन्दर्भ में भी है । मन का रोगी भगवान के सामने जाकर क्या करेगा? क्या अपनी विशेषताओं का वर्णन करेगा? भाई, यदि आप स्वयं को रोगी नहीं मानते, तो चाहे जिस रूप में वर्णन कीजिए, परन्तु हमें तो लगता है कि हमारा मन दोषों तथा बुराइयों से भरा है, रोगग्रस्त है । और इसके साथ साथ हमें यह भी पता चल चुका है कि इन रोगों को हम अपनी शक्ति से नहीं मिटा सकते । जब यह बात समझ में आ जायेगी, तब हम वैद्य की शरण में जाएँगे ।

गोस्वामी जी ने 'विनय-पत्रिका' में अपने सारे रोग भगवान के सामने रख दिए । भगवान ने गोस्वामी जी से पूछा – क्या तुममें कोई विशेषता भी है? गोस्वामी जी ने बहुत अच्छी बात कही । बोले – महाराज, मुझमें कोई विशेषता नहीं है, केवल कमी-ही-कमी है । – तो फिर तुम किस आशा से आये हो? बोले – महाराज, मुझमें एक विशेषता है और वह यह कि मैंने अपना कोई दोष आपसे छिपाया नहीं है –

मैं निज दोष कछू नहिं गोयो ।
डासत ही गइ बीत निसा सब,
कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो ।। (विनय. २४५/४)

वे बोले – इतना दावा मैं जरूर करूँगा कि जितने भी दोष मुझमें हैं, उन सबको मैंने आपके सामने खोलकर रख दिया

है। 'विनय-पत्रिका' में यह एक ही सूत्र है। 'विनय-पत्रिका' में मन के रोगों का सूक्ष्मता से विश्लेषण है। मनुष्य के जीवन में जो कमियाँ होती है, उन्हें गोस्वामी जी अपने ही सन्दर्भ में कहते हैं। जब एक एक दोष गिनाने लगे तो भगवान ने पूछा – क्या कुछ साधन-भजन भी करते हो? बोले – हाँ, महाराज। – क्या करते हो? बोले –

सकल अंग पद बिमुख नाथ,
मुख नाम ओट लई है ।। (विनय. १७०)

मेरे अन्य सब अंगों से तो बुराई-ही-बुराई होती है, पर मुँह से मैंने आपके नाम की ओट ली है। – 'नाम का ओट लिया हूँ' की जगह सीधे क्यों नहीं कहते कि आपका नाम लेता हूँ? बोले – महाराज, सच्चे भाव से नाम लेना तो नाम लेना हुआ, पर नाम के बहाने जो अपना स्वार्थ पूरा करने का इच्छुक है, वह तो नाम का ओट ही लेता है। मैं तो इसीलिए आपका नाम लेता हूँ कि लोग मुझे भक्त समझें, मेरी पूजा-सत्कार करें। मैं तो बहेलिया हूँ –

बिरची हरिभगतिको बेष बर टाटिका,
कपट-दल हरित पल्लनि छोवौं।
नाम लगि लाइ लासा ललित बचन कहि,
व्याध ज्यों बिषय-बिहँगनि बझावौं।। (विन. २०८/२)

बहेलिए पक्षियों को फँसाने के लिए चारों ओर से अपने आप को हरे हरे पत्तों से ढँककर वृक्ष का रूप बना लेते हैं और उसमें एक लम्बा बाँस खड़ा करके उसमें गोंद लगा देते हैं। पक्षी दूर से देखकर उसे वृक्ष समझकर उस पर बैठ जाता है। बैठते ही वह गोंद से चिपक जाता है और बहेलिया उसे पकड़ लेता है। गोस्वामी जी बोले – महाराज, मेरी भी ठीक यही दशा है; मैंने जो अपनी भक्तों जैसी वेशभूषा बनायी है, यह वही बहेलियेवाला रूप है। और यह जो मैं बारम्बार उच्च स्वर में आपका नाम लेता हूँ, यही नाम का गोंद लगा हुआ बाँस है; इसमें मीठे शब्दों का गोंद लगाकर मैं लोगों को फँसाता रहता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि इतना सब करने के बाद भी यदि आप जानना चाहते हैं, तो महाराज, सुनिए, मैंने अपनी स्थिति बता दी। – तो इतनी बुराई लेकर तुम यहाँ चले कैसे आए, तुम्हें डर नहीं लगा? बोले – महाराज, डर मिटाने को ही तो आया हूँ। वैद्य यदि रोगी से पूछे कि क्यों आए हो, तो रोगी यही कहेगा कि मैंने सुना है कि आप असाध्य से असाध्य रोग भी दूर कर देते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं – महाराज, जब मै चारो ओर से निराश हो गया, तो आपके विषय में पता लगाना शुरू किया कि आप किस तत्त्व के बने हैं। – क्या पता लगा? बोले – महाराज, आप तो पूरे कृपा से बने हैं –

है तुलसिहिं परतीति एक
प्रभु-मूरति कृपामई है ।। विनय. १७०/७

देखने में तो मनुष्य के शरीर जैसा ही दिखाई देता है, पर ईश्वर क्या है? ज्ञानी कहता है – **राम सच्चिानन्द दिनेसा।** (२/११६/५) और भक्त कहता है – **प्रभु-मूरति कृपामई है।** इसका अभिप्राय यह है कि या तो हम 'सच्चिदानन्द दिनेश' से अभिन्न हो जायँ अथवा कृपामय भगवान के समक्ष अपनी कमियों का निवेदन करके हम उनसे अपने रोगों को दूर कर देने के लिए प्रार्थना करें।

गोस्वामी जी ने 'मानस' में भगवान के कृपामय स्वरूप का जो श्रीगणेश किया, इसका अभिप्राय यह है कि जब हमें अपनी कमियों का ज्ञान होगा, तो हम व्याकुल होकर भगवान से प्रार्थना करेंगे। सबसे पहले चाहिए ईश्वर की कृपा। ईश्वर-कृपा की व्याख्या भी अलग अलग है। इसका मूल सूत्र यह है कि बच्चे की आवश्यकता के अनुसार माँ के प्रेम की उसकी व्याख्या भी बदलती जाती है। बचपन में माँ उसे मिठाई दे, तो उसे लगता है कि माँ उससे स्नेह करती है, परन्तु वही बालक जब थोड़ा बड़ा हो जाता है, तो उसकी प्यार की व्याख्या बदल जाती है। लगता है कि माँ-बाप यदि रुपये-पैसे दें, तो वे हमसे प्यार करते हैं। और भी बड़े होने पर यदि माँ-बाप उसे स्वतन्त्रता दें, तो उसे लगता है कि वे उससे प्रेम करते है। ऐसा ही भगवान की कृपा के मामले में भी है। भगवान तो कृपा की मूर्ति हैं, परन्तु उनकी कृपा का अर्थ क्या है? हम भगवान को किस रूप में पाना चाहते हैं? गोस्वामी जी ने यह जो सूत्र दिया, उसका अभिप्राय यह है कि जब हम भगवान की कृपा को ठीक ठीक समझ लेते हैं, तो अन्त में उनसे कृपा के लिए ही प्रार्थना करते हैं।

भगवान ने पूछा – मैं कृपालु हूँ, इसकी तुम्हारे पास क्या कसौटी है? गोस्वामी जी ने लिखा – महाराज, आपके कृपा की कसौटी है और वह यह कि जब मेरे मन के सारे दोष मिट जाएँगे, तो समझ लूँगा कि आपकी कृपा हुई है –

तुम अपनायो तब जानिहौं,
जब मन फिरि परिहै। विनय. २६८/१

तात्पर्य यह कि कृपा का मापदण्ड संसारियों का अलग है और साधकों का अलग। साधारण संसारी व्यक्ति कृपा का जो अर्थ लेता है, साधक और भक्त की दृष्टि उससे भिन्न है।

गोस्वामी जी कहते हैं – प्रभो, मुझे तो वह कृपा चाहिए, जिससे मेरे मन के सारे दोष दूर हो जायँ। अतः **राम कृपाँ नासहिं सब रोगा** – इस चौपाई में केवल साधना का क्रम ही नहीं, कृपा की व्याख्या भी है। इसका एक अर्थ है – राम की कृपा से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं; और दूसरा अर्थ यह है कि जब सभी रोग दूर हो जायँ, तभी समझना होगा कि हमारे जीवन में भगवान की कृपा का पूर्ण अनुभव हो गया। ❑

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमारा देश पर्वों और त्यौहारों का देश है। हर पर्व और त्यौहार एक नयी उमग लेकर आता है और हमारे जीवन को खुशियों से भरने की चेष्टा करता है। जब इन त्यौहारों की शुरुआत हुई, तब हमारा देश गरीबी के अभिशाप से ग्रस्त नहीं था। वे देश के लिए सुख-स्वच्छन्दता और अमन-चैन के दिन थे। मनुष्य के जीवन में उतना तनाव नहीं था, आपाधापी नहीं थी, गर्दन पर वार करनेवाली कटु प्रतियोगिताएँ नहीं थीं। तब प्रकृति का दोहन नहीं, उसकी पूजा की जाती थी और प्रकृति भी अपना सन्तुलन बनाये रखकर मनुष्य के जीवन को प्राकृतिक विपदाओं के शापों से यथाशक्ति मुक्त रखती थी। पर आज पासे ही उलट गये हैं और त्यौहार खर्च के पर्याय बन गये हैं। उनका जीवन पक्ष धीरे धीरे लुप्त होता जा रहा है और अनुष्ठानों में यांत्रिकता का बढ़ता हुआ बोझ उमंग को मानो दबा-सा दे रहा है।

तथापि आज की बदलती हुई परिस्थितियों में भी, जिन त्यौहारों की हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं, उनमें दीपावली शीर्ष स्थान रखती है। यह भारत का सबसे बड़ा त्यौहार है, जिसे सभी धर्म तथा सम्प्रदायों के लोग मनाते हैं। इस पर्व पर छोटी-से-छोटी झोपड़ी से लेकर बड़े बड़े महल तक दियों के प्रकाश में जगमगा उठते हैं। आजकल भले ही लोग बिजली के लट्टुओं से सुन्दर सजावट करें, पर वे भी दीप जलाना नहीं भूलते। जहाँ देखें, वहाँ दीपों की कतार दिखाई पड़ती है। 'दीपावली' का अर्थ भी दीपों की कतार ही है।

यह त्यौहार कैसे शुरू हुआ, इसके सम्बन्ध में विविध मान्यताएँ हैं। मुख्य मान्यता तो यह है कि आज के ही दिन अयोध्या की प्रजा ने चौदह वर्षों के वनवास से लौटकर आये हुए श्रीराम के राज्यारोहण का महोत्सव मनाया था। जो अयोध्या चौदह वर्षों तक सूनी सूनी और अँधेरे में डूबी हुई उदास पड़ी थी, वह श्रीराम के आगमन से आज ही के दिन प्रकाश से जगमगा उठी थी। तभी से इस पर्व पर हर वर्ष दीपमालिका जलाकर हर्ष प्रकट किया जाता है।

दूसरा कारण यह है कि इस शरद् ऋतु के आगमन के साथ वर्षा से धुली हुई धरती समेत निसर्ग चमक उठता है। वर्षा के अन्त की सूचना देनेवाले इस पर्व में वर्षा से उत्पन्न गन्दगी को दूर करके, घरों को लीप-पोतकर साफ करके दीपमालिका के स्निग्ध प्रकाश से आलोकित किया जाता है।

इसका तीसरा कारण है – नयी फसल का आगमन। कार्तिक के महीने में खेतों से पका हुआ अनाज खलिहानों में पहुँचकर समृद्धि के आगमन की सूचना देता है। अतएव समृद्धि की देवी लक्ष्मी की अगवानी के रूप में दीप-मालिकाएँ सजायी जाती हैं।

चौथी मान्यता के अनुसार आज ही के दिन समुद्र-मन्थन से लक्ष्मीजी का प्रादुर्भाव हुआ था। अतएव इसे लक्ष्मीजी के स्वागत-पर्व के रूप में भी मनाया जाता है।

पाँचवी मान्यता यह है कि कार्तिक मास के धनतेरस से अमावस्या तक के तीन दिनों में ही वामन रूपधारी भगवान विष्णु ने दैत्यराज बलि से सम्पूर्ण लोक ले लेने के पश्चात् उसे पाताल लोक जाने को विवश करते हुए एक वरदान माँग लेने की आज्ञा दी थी। इस पर पुण्यात्मा बलि ने कहा था – "आपने कार्तिक मास के त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या के जिन तीन दिनों में मुझसे पृथ्वी लोक ग्रहण किया है, उनमें जो प्राणी मृत्यु के देवता यमराज के उद्देश्य से दीपदान करे, उसे यम की यातना न मिले और उसका घर कभी लक्ष्मी से विहीन न हो।" राजा बलि की यह प्रार्थना भगवान ने स्वीकार कर ली और तभी से ये तीन दिन यम के उद्देश्य से किये जानेवाले दीपदान रूप दीपावली का प्रचलन हुआ।

छठवीं मान्यता के अनुसार प्राग्ज्योतिषपुर के नरेश भूमिपुत्र भौम का, जो नरकासुर के नाम से भी जाना जाता था और जो बड़ा आततायी और दुष्ट था, भगवान कृष्ण ने बड़ी युक्ति से चतुर्दशी के दिन वधकर उसके कारागार में बन्दिनी सहस्रों राजकुल की स्त्रियों तथा राजाओं की मुक्ति की थी। इसलिए यह तिथि नरक-चतुर्दशी के नाम से विख्यात हुई। उसके कारागार से मुक्त होने की खुशी में राजाओं और उनकी प्रजाओं ने दीपमालाएँ जलाकर खूब उत्सव किया था। तब से दीपावली का शुभारम्भ हुआ।

साराश में, दीपावली अन्धकार, गन्दगी, बन्धन और अज्ञान से मुक्ति की सूचना देनेवाला पर्व है। यह जूआ आदि अशुभ, अवाछनीय कर्मों के द्वारा खुशी मनाने का नहीं, वरन् शुभ कर्मों द्वारा श्री और ऐश्वर्य की कृपा पाने का पर्व है। ❑

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

मन्मथनाथ गांगुली

(धन्य थे वे लोग, जो स्वामीजी के काल में जन्मे तथा उनका सामीप्य पाया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत लेख संघ के अंग्रेजी तथा बँगला पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने के बाद 'Reminiscences of Swami Vivekananda' तथा 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक ग्रन्थों में संकलित हुए हैं, जहाँ से हम इनका अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

आध्यात्मिक उपलब्धि ही मानव-जीवन की श्रेष्ठ सम्पदा है। इसी कारण शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की साधनाओं की बात मिलती है। लगता है कि स्वामीजी ने भी संक्षेप में राजयोग पर ही अधिक जोर दिया है; तथापि उन्होंने बारम्बार भक्ति, कर्म तथा ज्ञान का सामंजस्य करने को कहा है। एक सज्जन व्यक्ति की गुणावली ही इस साधना की नींव है। अध्यात्म-राज्य के दर्शन या भावों को वे प्रमुख नहीं मानते थे। मूल बात यह कि सम्पूर्ण जीवन ही सात्त्विक तथा सुन्दर होना चाहिए। इसी का नाम कर्मयोग है।

स्वामीजी ने हर कर्म को कर्मयोग में परिणत करने की शिक्षा दी है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने गुरु या गुरुतुल्य व्यक्ति के प्रति अटूट श्रद्धा तथा आज्ञाकारिता की आवश्यकता के विषय में भी सचेत किया है। किसी व्यक्ति के जीवन में धर्मलाभ की पिपासा चाहे कितनी भी प्रबल क्यों न हो, वे उसका सनकीपना पसन्द नहीं करते थे। बुद्धि तथा युक्ति की सहायता से धीरे धीरे उन्नति होना ज्यादा अच्छा है; पर भाव-विह्लता, विचार-विमुखता आदि गुणों को वे अधिक प्रश्रय नहीं देते थे। वे कहा करते थे – 'दब्बू मत बनना', 'तुम लोग वीर बनो', 'काम में लग जाओ'। हम लोग भी यही कहते हैं, परन्तु उसमें शक्ति नहीं होती। स्वामीजी की ये सब अति साधारण बातें भी केवल बातें नहीं हैं – इन्हें मंत्र कहा जा सकता है। ऐसी बात नही कि वे केवल बातों के द्वारा ही ये सब भाव समझा देते हों। उनकी बातों के पीछे एक प्रचण्ड शक्ति थी – कोई बात सुनते ही मन में भिंद जाती थीं। उनका पालन करने के प्रयास में पूरा जीवन ही बदल जाता था।

जो लोग स्वामीजी या उनके गुरुभाइयों के पास गये थे, उन सभी को सुचारु रूप से कार्य करने की शिक्षा मिली है। कर्म करते करते 'योग' होगा या भगवान की प्राप्ति होगी – ऐसी धारणा होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है; परन्तु भगवद्-भाव क्या है, यह उन लोगों के पास जाने से मन में एक तरह से मुद्रित हो जाता करती थी। मैंने अपने जीवन के परवर्ती काल में अनेक साधु-संन्यासियों को देखा है, परन्तु इस प्रकार श्वास-प्रश्वास के साथ अपने चारों ओर आध्यात्मिक सम्पदा बिखराते अन्य कोई नहीं दिखा। भगवान सर्वत्र विराजित हैं, सभी कार्य 'उन्हीं के कार्य' हैं; कार्य में कोई छोटा-बड़ा नहीं है। चिन्तन-मनन, लिखना-पढ़ना, ध्यान-धारणा – सब कुछ कार्य ही है। जब जो कार्य करना होगा, पूरा मन-प्राण लगाकर करना होगा, मानो उसी एक कार्य को ठीक ठीक सम्पन्न करने पर हमारे जीवन-मरण की सारी समस्या निर्भर हो – इस प्रकार के निष्ठापूर्ण अनुराग तथा प्रयास को ही 'श्रद्धा' कहते हैं। इस श्रद्धा के सहयोग से कर्म 'योग' में परिणत हो जाता है। ऐसी बात नहीं कि जहाँ मन-बुद्धि निरुद्ध हो जाते हैं, भगवान केवल वहीं हों। सम्पूर्ण विश्व में सब कुछ वे ही हैं। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जो 'पूजा' न हो। कमरे को पोंछना, बाजार करना, हिसाब रखना – समस्त कार्यों में उन्हीं एक अखण्ड सच्चिदानन्द की अनुभूति तथा उपलब्धि होनी चाहिए। तभी तो कार्य करके आनन्द प्राप्त होगा। और तभी जहाँ कभी भी बैठकर उनका ध्यान करना सम्भव हो सकेगा। जो स्वामीजी कर्म के बारे में इतना कुछ कहते थे, वे स्वयं ही कर्मजगत् के व्यक्ति न थे। उनकी सम्पूर्ण वृत्ति अन्तर्मुखी थी, एक ऐसे भावराज्य में थी, जो हमारे नेत्रों की पकड़ में तो आती, परन्तु मानो सदा-सर्वदा हमारी पहुँच के बाहर रह जाती। उनकी बातें तथा उनके मुखमण्डल की याद आने पर भी उसी अपूर्व भावजगत् का ही स्मरण हो आता है, कर्म-ज्ञान-भक्ति – इन सब की याद नहीं आती। 'आचार्य कोटि' के लोग इन इन भावों के द्वारा मनुष्य का भगवान से साक्षात् परिचय करा देने के लिए ही आते हैं – इसके लिए किसी योग अथवा साधना की आवश्यकता नहीं होती। तो भी उस भाव की रक्षा करने के लिए पूरा जीवन ही लग जाता है, और उसी को 'कर्मयोग' कहते हैं।

राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) को मैंने प्राय: ही किसी अतल भावराज्य में डूबे हुए देखा है। सुनने में आता था कि वे ठाकुर के मानसपुत्र हैं। यह भी सुना है कि उनके शरीर का गठन काफी-कुछ ठाकुर के समान ही था। इसके अतिरिक्त उनके सेवक ब्रह्मचारी तथा संन्यासियों ने देखा है कि उनका मन मुहुर्मुहु: समाधिमग्न हो जाया करता था। ऐसे व्यक्ति को स्वामीजी ने स्वयं ही मठ का अध्यक्ष नियुक्त किया था। अध्यक्ष की कितनी जिम्मेदारियाँ होती हैं, कितने प्रकार के कर्तव्य होते हैं! इस कर्म का भार राखाल महाराज तो लेना ही नहीं चाहते थे, परन्तु गुरुभाइयों के बीच ऐसा आपसी प्रेम था कि राखाल महाराज के समान अन्तर्मुखी वृत्ति के व्यक्ति ने भी

इस कर्म की शृंखला को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया था। स्वामीजी का अमोघ हथियार था – आन्तरिक आग्रह। उन्होंने जब कहा, "तो भाई, क्या मैं अकेले ही परिश्रम करके मरूँगा?" – इसके बाद हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के समान ध्याननिष्ठ संन्यासी के लिए भी 'नहीं' करना असम्भव हो गया था। जैसे वे स्वामीजी के साथ अमेरिका जाने को सहमत हुए थे, ठीक वैसे ही स्वामीजी ने राखाल महाराज को भी मठ का प्रथम अध्यक्ष होने को मना लिया था।

हम लोग शास्त्र से सुनते हैं कि ईश्वर-दर्शन होने पर सर्वभूतों से प्रेम होता है, परन्तु उस प्रेम के आधार पर कैसे कर्म किया जाता है, इसका निदर्शन मिलना कठिन है। बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द), शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) आदि स्वामीजी के गुरुभाइयों के जीवन तथा शिक्षाओं से हम थोड़ा-बहुत समझ सकते हैं कि कर्म करने का सूत्र क्या है! इस विषय में राखाल महाराज को आदर्श कहा जाता है। जो लोग उनके पास (सेवक के रूप में) रहे हैं, वे छोटी-मोटी सभी बातों में हमारे लिए आज भी आदर्श बने हुए हैं। खाने का पत्तल किस प्रकार लगाया जाय, यहाँ तक कि नमक तक कैसे परोसा जाय, यह भी उन्होंने सिखाया है। उनके जैसे अन्तर्जगत् में डूबे हुए व्यक्ति ऐसे छोटे-मोटे कार्यों का भी कैसा ध्यान रखते थे – इसी पर आश्चर्य होता है।

स्वामीजी और इन महापुरुषों को देखकर एक बात निश्चित रूप से समझ में आ जाती है – हम लोग जिसे धर्म, भगवान तथा मनुष्यता कहते हैं, ये कोई अलग अलग चीजें नहीं हैं; ये एक ही नित्य चिरन्तन भाव की शाश्वत अभिव्यक्तियाँ हैं। उस मूल भाव को पकड़ना ही स्वामीजी की शिक्षा का तात्पर्य है। इस भाव से अनुप्राणित होकर मनुष्य स्वयं ही अपने अपने मार्ग तथा कर्तव्य का निर्धारण करके चलेंगे। उन्होंने एक ओर जहाँ संघ को बिना-प्रतिवाद किये आज्ञाकारिता का आदेश दिया है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता भी प्रदान की है। परन्तु स्वामीजी ने कर्म के किसी निर्दिष्ट मार्ग को कभी अनुचित प्राधान्य नहीं दिया। शास्त्र में जिसे 'विराट्' कहते हैं, उन प्राण-पुरुष को उन्होंने स्वयं में ही आविष्कार किया था। उसी चेतना के द्वारा ही उन्होंने 'जनता-जनार्दन' के भीतर व्याप्त प्राणपुरुष की सत्ता का आह्वान किया था। श्रीरामकृष्ण संघ के कर्म का सूत्र समझने के लिए अपने हृदय में इस चैतन्यमय पुरुष की उपलब्धि करनी होगी, तभी हम समझ सकेंगे कि आध्यात्मिक अनुभूति के चरम शिखर के साथ कर्मजगत् के स्थूलतम कर्मक्षेत्र का कैसा घनिष्ठ सम्पर्क है! तब हम आंशिक रूप से समझ पाते हैं कि स्वामीजी ने अपने वेदान्त-बोध के बावजूद कर्म के लिए क्यों इस प्रकार आह्वान किया था और राखाल महाराज के समान समाधिवान व्यक्ति ने भी तुच्छातितुच्छ कर्म को क्यों इतना महत्व दिया है। इस सूत्र को समझे बिना 'नारायण बोध से नरसेवा' का अर्थ हृदयंगम कर पाना अत्यन्त कठिन है।

अंग्रेजी में कहावत है – Work is worship. – कर्म ही पूजा है; परन्तु स्वामीजी के कर्मयोग को समझने के लिए उन्हीं के एक सूत्र को पकड़ना अच्छा होगा। उन्होंने कहा था, "कर्म ही उपासना है और उपासना ही कर्म है।" हममें से अधिकांश लोग अपने जीवन में प्राय: इसके ठीक उल्टा ही किया करते हैं। हम कर्म को उपासना से निकृष्ट समझते हैं। उपासना के समय जैसी एकाग्रता तथा श्रद्धा रहनी चाहिए, वैसी ही एकाग्रता तथा श्रद्धा होने पर कर्म को सुसम्पन्न किया जा सकता है। केवल इतना ही नहीं, हम उपासना रूप कर्म को ही भगवत्-कार्य मानते हैं, ऐसा नहीं सोचते कि समस्त कर्म ही ईश्वर-प्राप्ति के सोपान हैं। उसी भाव का पोषण करने से उपासना-बोध से कर्म होता है। पर यह भी मन के क्षेत्र में ही आंशिक फल देता है। इसका परिपूरक भाव यह है कि उपासना रूप कर्म में नैष्कर्म्य-वृत्ति लाना। अब इन दोनों भावों का सामंजस्य करने पर कर्म, उपासना, ज्ञान या भक्ति – सभी कर्म भी हो जाते हैं और सभी उपासना भी हो जाते हैं। जाग्रत मन को भी कर्म कहते हैं – उसी मन के ऊपर जो भावजगत् है, उसे उपासना का क्षेत्र कहा जाता है। मन इन दोनों क्षेत्रों के ऊपर नहीं जाना चाहता। विभिन्न प्रकार की साधनाएँ बतायी गयी हैं, जिससे व्यक्ति इस कर्म तथा उपासना के ऊपर जो बोध है, उसी में स्थिति हो सके। स्वामीजी सर्वजनों के लिए यह एक सहज साधना का मार्ग बता गये हैं। सभी कार्यों को भगवान का कार्य समझने पर मन की उपासना का भावजगत् खुल जाता है। उस भावराज्य में भी निस्पृह होना पड़ेगा। जब प्रत्येक कार्य में नि:श्वास-प्रश्वास के समान सहज स्वाभाविक रूप से भगवत्-बोध रहता है, तभी उपासना भी कार्य में परिणत हो सकती है, उसके पहले नहीं। संक्षेप में, वेदान्त-भाव की चरम अवस्था में 'कर्म की उपासना और उपासना का कर्म' के रूप में अनुभव हो सकता है। इसी प्रकार स्वामीजी की हर छोटी-मोटी बात में भी बड़ा गूढ़ तात्पर्य निहित है।

एक बार मैंने स्वामीजी से पूछा था, "मुक्ति क्या गुरु देते हैं, या जीव अपनी साधना के बल पर मुक्तिलाभ करता है?"

स्वामीजी – "जीव अपनी इच्छा से बद्ध हुआ है। बद्ध होने के कारण ही तो वह जीव है। उसने अखण्ड ब्रह्मसत्ता से अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा व्यष्टित्व की प्राप्ति की है और इसी कारण वह स्वयं को अलग सोच रहा है। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। यदि कहो कि यह जीव की इच्छा से नहीं, बल्कि किसी अन्य शक्ति के द्वारा हुआ है, तो उस शक्ति का नाम है माया। माया के प्रभाव से जीव अपने

पृथक् अस्तित्व का बोध करता है। माया की जो शक्ति है, उसकी अनन्त धाराएँ हैं। उसके सामने जीव की क्षुद्र शक्ति जल की बूँद के समान है। जीव अकेले भला क्या करेगा? इसीलिए वह माया की शक्ति के साथ खेलता है। खेलते खेलते वह भूल जाता है कि वह कहाँ से आया है। तब ब्रह्म (जीव) प्रकृति के फन्दे में पड़कर रोने लगता है।

"छोटे बच्चों को देखा है न? वे एक खम्भे को पकड़कर उसके चारों-ओर गोल गोल घूमते रहते हैं। वैसे ही जीव भी अपनी वासना के बल पर गोते खा रहा है और कहता है, 'बचाओ!' छोटा बच्चा यदि कहे, 'मेरा हाथ छुड़ा दो!' तो बड़े लोग क्या करते हैं? हँसते हैं और तमाशा देखते रहते हैं। माया की शक्ति पर ही जीव भोग करता है और उसी को कहता है, 'दूर हो!' तब क्या ईश्वर उस जीव का उद्धार करने दौड़े आयेंगे? या मजा देखेंगे? जब छोटा बच्चा हाथ निकाल लेता है, तब उसकी चक्कर लगाने की इच्छा समाप्त हो जाती है। जीव की मुक्ति भी वासना-त्याग पर निर्भर करती है। वासना-त्याग करने की इच्छा होने पर ही मुक्ति की बात उठती है। त्याग हो जाने से ही मुक्ति हो जाती है।"

मैं – तो फिर गुरु क्या करते हैं? और हम लोग कृपा भी भला क्यों चाहते हैं?

स्वामीजी – जीव स्वयं ही अपना पथ नहीं देख पाता, इधर-उधर टटोलता रहता है कि उद्धार कैसे होगा। तब वह एक ऐसे व्यक्ति का आश्रय लेता है, जिन्हें उस मार्ग का ज्ञान है। वे उसे एक रास्ता पकड़ा देते हैं। उसी के अनुसार साधना करके उसे मुक्ति का मार्ग मिल जाता है। यह गुरुकृपा के अतिरिक्त और क्या है?

मैं – आपकी बातों से लगता है कि आप साधना पर बल दे रहे हैं; परन्तु भक्ति में तो कृपा ही एकमात्र अवलम्बन है।

स्वामीजी – वह क्या है जानते हो? एक एक भाव है। एक एक भाव में एक एक तरह का बोध होता है। यदि पूरा भक्ति-विश्वास हो, तो साधक को लगता है कि वह स्वयं कुछ भी नहीं कर रहा है – गुरु ही सब कुछ कर रहे हैं। पर वैसा होना बड़ा कठिन है। जब तक 'अहंभाव' है, तब तक साधना अर्थात् कर्म भी है और कर्म का फल भी है। साधना के परिपक्व हो जाने पर इष्ट-दर्शन होता है – ईश्वर क्या हैं, यह समझ लेने पर गुरु की वास्तविक सत्ता की अनुभूति होती है।

मैं – सुनने में आता है कि ब्रह्मचर्य के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता। परन्तु आजकल तो वैसे आधार बहुत कम मिलते हैं। तो फिर हमारे समान साधारण जीवों का क्या होगा?

स्वामीजी – ब्रह्मचर्य एक साधना है। उसके भीतर सभी प्रकार की साधनाएँ आ जाती हैं। देह-मन पूरी तौर से शुद्ध होना चाहिए, तभी समझ सकोगे कि भगवान क्या हैं। संन्यासी को सोलह आने करना पड़ता है। वे लोग संसार के लिए आदर्श-स्वरूप होंगे। गृहस्थ लोगों का भी यथाशक्ति संयत जीवन होना चाहिए, तभी उस बोधशक्ति का उदय होगा। केवल विचार करके और पुस्तकें पढ़कर क्या समझा जा सकता है कि ब्रह्म क्या वस्तु है?

मैं – ब्रह्मचर्य-पालन ही यदि उद्देश्य हो, तब तो विवाह न करना ही उचित है?

स्वामीजी – जीव के संस्कार इतने बलवान हैं कि वह विवाह करने को मजबूर हो जाता है। जो उस संस्कार से थोड़ा मुक्त है, वही संन्यास का अधिकारी हो सकता है। जो कुछ संस्कार रह जाता है, वह गुरु की शक्ति से तथा साधना-पथ में लगे रहने से चला जाता है। परन्तु अधिकांश लोगों के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नहीं है, इसीलिए विवाह-संस्कार की भी जरूरत है। पर ऐसी बात नहीं है कि विवाह करने से ब्रह्मचर्य-पालन नहीं हो सकता हो। ठाकुर ही इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। और भी अनेक लोग हैं, परन्तु उन लोगों की बातें तो सामान्य लोग की जानकारी में नहीं आती।

❖ (समाप्त) ❖

विज्ञान और धर्म

क्या धर्म को भी उन बुद्धि के आविष्कारों द्वारा स्वय को सत्य प्रमाणित करना होगा, जिनकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध करते हैं ? मेरा तो विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वसप्राप्त हो जाय, तो वह सदा से निरर्थक-कोरे अन्धविश्वास का धर्म था और वह जितनी जल्दी दूर हो जाय, उतना ही अच्छा। सारा मैल धुल जरूर जाएगा, पर इस अनुसन्धान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आएँगे। वह केवल विज्ञानसम्मत ही नहीं होगा – कम-से-कम उतनी ही वैज्ञानिक जितनी कि भौतिकी या रसायनशास्त्र की उपलब्धियाँ हैं – प्रत्युत और भी सशक्त हो उठेगा; क्योंकि भौतिक या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है।

— स्वामी विवेकानन्द

सामाजिक संकट और हमारा दायित्व

भैरवदत्त उपाध्याय

समाचारों का कुछ कतरनें हैं -

(१) अमुक शहर में एक नवविवाहिता युवती को दहेज के कारण जिन्दा जला दिया गया। (२) एक अबोध बालक का अपहरण कर और उसे अपग बनाकर भीख माँगने का साधन बनाया गया। (३) बदमाशों ने बन्दूक की नोंक पर डाका डाला और कन्या छात्रावास में घुसकर आतक मचा दिया। (४) प्रश्नपत्र कठिन आने से छात्रों ने परीक्षा का बहिष्कार किया। (५) परीक्षा-केन्द्र पर छात्र सामूहिक नकल करते पकड़े गये। (६) नकल करते हुए पकड़े जाने पर छात्र ने चाकू मारा। (७) अमुक पार्टी के अमुक प्रसिद्ध नेता, दल से त्यागपत्र देकर अमुक दल में सम्मिलित हो गये। (८) एशियाई खेलों को देखने के लिए आनेवाले युवकों की भीड़ वहाँ इसलिए नहीं थी कि उन्हें खेलों में कोई दिलचस्पी थी; वे तो अपने प्रिय अभिनेता को देखने गये थे।

इस प्रकार के अनेकानेक समाचार आये दिन समाचार-पत्रों में छपते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा समाज वर्तमान में किस जगह खड़ा है और उसका भविष्य क्या है? हमारा राष्ट्रीय चरित्र गिर गया है। गलत कामों के जरिये पैसा पैदा करनेवाले लोगों को अब बुरी निगाह से नहीं देखा जाता। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आती, बल्कि उल्टे उन्हें सम्भ्रान्त नागरिकों की श्रेणी में रखा जाता है। पैसा और शराब बाँटकर, जीतनेवाला तिकड़मी नेता, पीत-पत्रकारिता के बल पर चमकने-वाला पत्रकार, हत्या तथा यौन-विषयक साहित्य रचनेवाला साहित्यकार, भ्रष्टाचार में रत अधिकारी, समाजविरोधी कार्यों में सलग्न व्यापारी और चमत्कारी भगवान अब सामाजिक घृणा के पात्र नहीं रहे। विकृत जीवन-दृष्टि देकर समाज को पगु बनानेवाले फिल्मी सितारे अब आदर्श हैं, तो उनके चरणचिह्नों पर चलना युवा पीढ़ी का धर्म तथा उनके दर्शनों के लिए हजारों की भीड़ उमड़ पड़ना स्वाभाविक ही है। ईमानदारी नदारद है। बेईमानी के बिना कोई जी ही नहीं सकता, यह विश्वास अब व्यक्ति में घर कर गया है। वह इतना आत्मकेन्द्रित हो चुका है, उसके 'स्व' का वृत्त इतना सकुचित हो गया है कि उसमें समाज के लिए स्थान ही नहीं है, समाज-हित और सर्वोदय की भावना दब गयी है। व्यक्ति की क्षुद्रतम कामनाओं की पूर्ति के लिए समष्टि का बलिदान होने लगा है। रिश्वतखोरी, तस्करी, मिलावट, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, करचोरी, कालाबाजारी, धोखाधड़ी और उद्दण्डता आम बातें हो गयी हैं। दिवा-स्वप्न, मिथ्या-प्रतिष्ठा, कुण्ठाएँ, असीमित आकाक्षाएँ, आत्मविश्वास का अभाव, फैशन की होड़, श्रम के प्रति अनास्था, असत्य और हिंसा के भावों से व्यक्ति आक्रान्त है। शार्टकट विधि से वह ज्ञान, धन, पद और प्रतिष्ठा आदि सब पा जाने को आतुर है। नैतिक मूल्यों का महत्व अब नहीं है। उनके प्रति पीढ़ियों से जुड़ी हमारी आस्थाएँ डिग गयी हैं और विश्वास की बुनियादें कमजोर पड़ गयी हैं। मनुष्य अपने चरित्र को खो चुका है।

इसका कारण क्या है? क्या उदात्त परम्पराओं से समृद्ध हमारी सस्कृति विलुप्त हो गई है? क्या हजारों वर्षों से प्राणों के मूल्य पर सरक्षित मानवीय मूल्य तिरोहित हो गये हैं? वेदशास्त्र, गीता, रामायण, बाइबिल, कुरानशरीफ, गुरुग्रन्थ साहब की पवित्र वाणियाँ क्या विलीन हो गई हैं? राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर और ईसा जैसे महापुरुषों के उपदेश क्या हवा में तैर गये हैं? क्या हमने धर्म की दुहाई देना छोड़ दिया है? मन्दिर, मस्जिद, चर्च और गुरुद्वारों पर क्या मत्था टेकना और धार्मिक ग्रन्थों का पारायण बन्द कर दिया है? और क्या धर्म, सम्प्रदाय तथा जाति के मिथ्या आधारों पर पारस्परिक सघर्ष को तिलाजलि दे दी गई है? ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है, तथापि प्रतिदिन हमारा चारित्रिक पतन हो रहा है। हम भीतर से खोखले होते जा रहे हैं। पाखण्डपूर्ण आचरणों से युक्त धर्म ने, सत्ता-केन्द्रित सिद्धान्त-हीन राजनीति ने, हत्या तथा रोमास के पोषक साहित्य ने, मानवघाती हथियारों के निर्माता विज्ञान ने, विज्ञापन के लिए समर्पित उद्देश्यहीन कला ने हमारे इस अधःपतन के द्वार खोले हैं और मशीनों ने हमारे पौरुष तथा बुद्धिबल को चुनौती देकर, हृदय की ममता को विच्छिन्न किया है; हाथों से काम छीनकर ढेर-सा अवकाश दिया है और आरामतलब बनाने में मदद की है। औद्योगिक और तकनीकी प्रतिष्ठानों से परजीवी प्रकृति की जिस सस्कृति का विकास हो रहा है, उसने व्यक्ति को गैर-ईमानदार होने को उकसाया है और जीवन को हिरण्यमृग की ओर लालायित किया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि शील की सीता दुश्चरित्र रावण ने हर ली है और मनुष्य पखहीन जटायु की भाँति असहाय हो गया है।

इस सामयिक सकट में हमारा दायित्व है कि हम नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठापना का व्रत लें। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में

(शेष पृष्ठ ४६४ पर)

माँ के सान्निध्य में (६२)

श्रीमती शैलबाला चौधरी

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

१९०४ ई. की जुलाई के २ श्रावण, रविवार के दिन सुबह घोड़ेगाड़ी में पूजनीय गौरी-माँ, उनकी दुर्गा और मैं बागबाजार में परमाराध्या श्री माँ के (किराये के) मकान में गये । माँ के श्री चरण दर्शन करने का मेरा यह पहला सौभाग्य था । गाड़ी में आते समय मैंने गौरी-माँ के सामने अपने कल्याण के लिए कातर भाव से रोते हुए सूचित किया था । श्री माँ के घर में पहुँचते ही गौरी-माँ सबसे पहले दूमंजिले पर गयीं; इसके बाद हम लोग भी गये । ऊपर जाकर मैंने देखा कि गौरी-माँ धीरे धीरे श्री माँ से कुछ कह रही हैं । उनके बीच कब बातें हुई, इसका मुझे पता नहीं चला, परन्तु माँ ने गौरी-माँ से कहा, "उस दिन तुम सुरेन की बहू को लायी थी और आज इस बहू को ले आयी हो, तुम्हारा ऐसा ही कार्य है!" यह सुनकर गौरी-माँ उच्चस्वर बोलीं, "दोगी क्यों नहीं? किसलिए आयी हो?" यह सुनकर माँ ने धीरे धीरे कहा, "तो फिर आओ बेटी, अभी समय अच्छा है ।" इसके बाद दुर्गा को मन्दिर में ले जाकर माँ ने दरवाजे बन्द कर लिए । गौरी-माँ और मैं बरामदे में खड़ी रही ।

दुर्गा की दीक्षा हो गयी । थोड़ी देर बाद वह बाहर आयी । इसके बाद मैं मन्दिर में गयी । माँ भीतर ही थीं । मेरे भीतर जाने पर दरवाजा बन्द कर दिया गया । गौरी-माँ तथा दुर्गा बाहर बरामदे में रह गयीं । माँ ने मुझे पूजा के आसन पर बैठाया और मुझसे ठाकुर की पूजा करायी । दीक्षा देने के पहले उन्होंने पूछा,"तुम लोगों के कुलगुरु हैं?" मैंने कहा, "हैं।" माँ बोलीं, "उनसे फिर दीक्षा लोगी?" मैंने कहा, "नहीं ।" इसके बाद उन्होंने कमरे के भीतर से ही गौरी-माँ को पूछा, "गौरदासी, इसे कौन देवता दूँ?" गौरी-माँ के कथनानुसार मेरी दीक्षा हुई । मैं पहले से ही जप किया करती थी । माँ ने मुझसे जप करने को कहा; परन्तु उस समय मेरे शरीर-मन की ऐसी अवस्था हो रही थी कि मैं जप नहीं कर सकी । माँ ने स्वयं ही मेरा हाथ पकड़कर जप कराया । इसके बाद मन्दिर का द्वार खोल दिया गया । गौरी-माँ भीतर आयीं और मुझसे माँ के चरणों में फूल चढ़ाने को कहा । मैंने वैसा ही किया ।

हम लोग जब माँ के घर पहुँची थीं, उस समय माँ गंगा-स्नान के लिए जाने की तैयारी कर रही थीं । हमारे आने से उनका गंगास्नान के लिए जाना नहीं हुआ । हम लोगों ने वही प्रसाद ग्रहण किया और दिन भर वहीं रहीं ।

माँ उस दिन एक चाभी खोज रही थीं । चौकी के पास एक चाभी देखकर मैंने कहा, "यहाँ एक चाभी पड़ी है ।" मुझे नहीं पता था कि माँ उसी चाभी को खोज रही थीं । उस चाभी को छूने का मुझे साहस नहीं हुआ । माँ ने उस चाभी को उठाने के बाद मुझसे कहा, "आजन्म-सुहागन रहो, बेटी ।"

माँ को छोड़कर आने की मुझे बिल्कुल भी इच्छा नहीं हो रही थी । आते समय मैंने माँ को प्रणाम करके विदा माँगी । माँ ने कहा, "फिर आना बेटी, पत्र लिखना ।"

भाद्र के महीने में जन्माष्टमी के दिन सझली भाभी[1] और मैं काकुड़गाछी के योगोद्यान में उत्सव देखने गयी थीं । वहाँ पहुँचकर हमने देखा कि श्री माँ आने वाली हैं और उनके स्वागत के लिए विशेष तैयारियाँ चल रही हैं । उनके बैठने के लिए मन्दिर के पास का एक स्थान अच्छी तरह घेरा गया था । माँ आयेंगी, उनका दर्शन होगा – यह सोचकर मेरे मन में खूब आनन्द हो रहा था । माँ के आते ही वहाँ हलचल मच गयी । रास्ते में नया वस्त्र बिछाया गया और शंखध्वनि होने लगी । उसी वस्त्र पर चलकर माँ आयीं; उनके साथ लक्ष्मी भाभी भी थीं । बहुत-से लोग माँ को देखने के लिए उत्सुक थे । हम लोग भी उनका दर्शन करने को उसी ओर गयीं । देखा कि माँ धीर भाव से आ रही हैं, उन्होंने घूँघट काढ़ रखा है । घूँघट के भीतर से मुझे देखते ही वे बोलीं, "आयी हो बेटी?" बहुत से लोगों की भीड़ हो गयी थी; मैं कुछ बोल नहीं सकी, केवल गर्दन हिला दिया । मेरी सझली भाभी पुत्रशोक से अत्यन्त कातर थीं । उन्होंने मुझसे कहा, "मैंने माँ को पहले कभी नही देखा, तुम माँ से कहो कि वे मुझ पर कृपा करें ।" अनेक लोगों की भीड़ के बीच मुझे माँ से बोलने का मौका नहीं मिल रहा था । भीड़ थोड़ी छँटते ही मैंने माँ से कहा, "माँ, ये मेरी भाभी हैं ।" मेरे इतना कहते ही माँ स्नेहपूर्वक बोलीं, "सब जानती हूँ, बेटी ।" माँ से मेरा और कुछ कहना नहीं हो सका ।

एक दिन सझली भाभी और मैं श्री माँ का दर्शन करने गयी

१. तीसरे भाई की पत्नी ।

थीं । माँ को प्रणाम करने के बाद हम मन्दिर में जाकर ठाकुर का दर्शन कर आयीं । माँ बोलीं, "बैठो ।" हम बैठ गयीं । विभिन्न प्रकार की बातों के बाद मैंने कहा, "माँ महामाया, माँ-बाप-पति-पुत्र देकर आपने हमें खूब भुला रखा है!" यह सुनकर माँ बोलीं, " ऐसा मत कहो । मैंने भुला रखा है! गृहस्थों के दुख-कष्ट देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है । क्या करूँ बेटी, वे लोग चाहते ही नहीं ।"

एक अन्य दिन मैं सझली भाभी के साथ माँ का दर्शन करने गयी थी । विभिन्न बातों के बाद सझली भाभी ने माँ से पूछा, "माँ, ठाकुर कहाँ हैं?" माँ बोलीं, "बेटी, ठाकुर और कहाँ हैं? वे भक्तों के पास हैं । साधु लोग जहाँ शौचादि करते हैं, वहाँ भी यदि संसारी लोग जायँ, तो उस हवा से उन लोगों के मन की मलिनता दूर हो जायेगी ।"

एक दिन सझली भाभी, न... दीदी, मामी और मैं – श्री माँ का दर्शन करने गयी थीं । सझली भाभी ने माँ से मामी तथा न... दीदी के दीक्षा की बात कही । इस पर माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया । इसके बाद सझली भाभी ने पुन: दीक्षा की बात उठायी । माँ ने कहा, "कुलगुरु तो हैं, उन्हीं से लेने से हो जायेगा ।" ये बातें माँ ने थोड़ी गम्भीरतापूर्वक ही कही थीं । थोड़ी देर बाद सझली भाभी उस कमरे से उठकर चली गयीं । मैं वही बैठी रही । तब माँ ने कहा, "दीक्षा देना क्या साधारण बात है, उनके सारे पापों का भार लेना पड़ता है!"

एक दिन मैंने माँ से पूछा, "माँ, ठाकुर का जप तो आप ने मुझे बता दिया है, आपका जप कैसे करूँगी?" इस पर माँ बोलीं, "राधा या और कुछ कहकर कर सकती हो, जिसमें तुम्हारी सुविधा हो, वही करना । और कुछ न बने, तो केवल माँ कहकर करने से भी हो जायेगा ।"

एक दिन भोजन आदि के बाद सझली भाभी तथा मैंने माँ का दर्शन करने के लिए आकर देखा कि उनके कमरे के सारे दरवाजे बन्द हैं । सुना कि माँ विश्राम कर रही हैं । थोड़ी देर बाद कमरे का दरवाजा खोला गया । हम लोग भीतर जाकर माँ को प्रणाम करके बैठ गयीं । माँ ने पूछा, "कब आयी, बेटी?" हमने कहा, "थोड़ी देर पहले आयी हैं । आप सो रही थीं, इसीलिए बाहर थीं ।" अन्य बातचीत के बाद मैंने माँ से कहा, "माँ, लोगों को कितने प्रकार के दर्शन मिलते है, मेरा तो कुछ भी नहीं हुआ!" इस पर वे बोलीं, "ये सब नीचे की बातें हैं ।" यह सुनकर मेरे मन में खूब आशा जगी । लगा कि उन सब दर्शनो की अपेक्षा मेरा और भी अधिक कल्याण होगा । मैंने माँ से कहा, "माँ, मेरा कुछ होगा नहीं?" माँ बोलीं, "क्यों नहीं होगा, बेटी, होगा ।"

एक दिन मैंने माँ से ठाकुर-पूजा के विषय में पूछा था । इस पर वे बोलीं, "तुम लोग गृहस्थ हो, ठाकुर की पूजा कर नहीं सकोगी ।"

श्री माँ से कुछ भी कहने पर वे कहतीं, "तुम लोग ठाकुर को पुकारो, वे सब कर देंगे । चन्दामामा सबके मामा हैं ।"

एक दिन मेरी माँ और मैं, श्री माँ का दर्शन करने जा रही थीं । सुधीरा दीदी माँ का दर्शन करके लौट रही थी; रास्ते में हमारी उनके साथ भेंट हो गयी । माँ के समक्ष सुधीरा दीदी का प्रसंग उठाने पर वे बोलीं, "वह भी एक लड़की है । विवाह नहीं किया । किस प्रकार वह अपने ही बल पर खड़ी है और गाड़ी में चढ़कर घूम रही है!"

एक अन्य दिन माँ और मैं, श्री माँ के घर गयीं और उन्हें प्रणाम करके कहा, "माँ, बहुत समय से आने का प्रयास कर रही थीं, परन्तु गाड़ी के कारण आने में देरी हुई ।" माँ बोलीं, "तुम यहाँ ठाकुर का दर्शन करने आती हो । भला गाड़ीवान को पैसा क्यों खिलाओगी? पैदल चलकर आना ।"

मेरी माँ और मैं, एक दिन दोपहर को श्री माँ का दर्शन करने गयी थीं । गोलाप-माँ हम लोगों को असमय आयी देखकर नाराज हुईं । वे बोलीं, "यह माँ का दर्शन नहीं, माँ को परेशान करना है । अब सबका भोजन पक चुका है । यदि आना हो, तो सुबह खबर भेजना चाहिए । अब तुम लोगों को दिये बिना वे लोग भला कैसे खायेंगी?" गोलाप-माँ ने श्री माँ से कहा, "तुम भी ऐसी हो – जो कोई भी 'माँ' कहकर आता है, तत्काल पाँव बढ़ा देती हो!" माँ बोलीं, "क्या करूँ, गोलाप! माँ कहकर आने पर मैं स्वयं को रोक नहीं पाती ।"

अपनी माँ के साथ मैं जब भी श्री माँ का दर्शन करने जाती, तो मेरी माँ को घर के सारे कार्य पूरे करने के कारण देरी हो जाती थी । श्री माँ के घर जाने के पहले ही भय होता कि कहीं गोलाप-माँ के सामने न पड़ जाऊँ । देरी से जाने के कारण वे डाँटने लगती थीं । एक दिन श्री माँ ने उनसे कहा, "क्या करेगी, जी? ये लोग सब ओर का देखकर ही तो आयेंगी!" जब हम माँ को प्रणाम करके विदा लेने लगीं, तो माँ ने कहा, "ऐसे ही चली जाओगी!" हम बोलीं, "घर में खाना रखा है, आपका दर्शन करके चली जायेंगी ।" माँ हम लोगों को प्रसाद खिलाना चाहती थीं । अन्त में उन्होंने कहा, "ठीक है बेटी, जाओ; नहीं तो गोलाप नाराज होगी ।" उन्होंने नारियल के खोल में हमें थोड़ा-सा प्रसाद दिया । उसे लेकर हम लोग घर लौट आयीं ।

एक दिन श्री माँ के चरणों में अर्पित करने की इच्छा से फूल-बिल्वपत्र तथा तुलसी लेकर माँ और मैं उनके घर गयीं । गोलाप-माँ तो हम लोगों को देखते ही चिढ़ गयीं । हम लोग चुपचाप खड़ी रहीं । बाद में मैंने माँ से कहा, "माँ, आपके चरणों में चढ़ाने के लिए ये फूल लायी हूँ ।" माँ बोलीं, "लाओ ।" मैंने कहा, "माँ, जल कहाँ मिलेगा?" माँ बोलीं,

"यहाँ है, ले लो न ।" जल लेकर श्री माँ के चरणों में सामान्य रूप से थोड़ा डालने के बाद मैं फूल-बिल्वपत्र आदि चढ़ाने जा रही थी, तभी माँ बोल उठीं, "तुलसी-विल्वपत्र मत देना, केवल फूल चढ़ाओ ।" माँ के चरणों में केवल फूल चढ़ाने के बाद उन्हें प्रणाम करके मैंने पूछा, "माँ, इन फूलों का क्या करूँ?" माँ ने कहा, "ले जाओ ।"

अपनी एक पुरानी हरिनाम जप करने की माला तथा एक नयी रुद्राक्ष की माला किसी भक्त के हाथ से मैंने श्री माँ के पास भेजा था । माँ ने नयी माला पर अपने हाथ से जप कर दिया था । पुरानी माला के विषय में उन्होंने कहा, "वह पुरानी माला है ।" परन्तु भक्त के कहने पर उन्होंने उस पर भी जप कर दिया था । इसके बाद माँ के पास जाने पर मैंने उनसे पूछा था, "रुद्राक्ष की माला से क्या कहकर जप करूँगी?" माँ ने बता दिया । मैंने पूछा, "हरिनाम की माला पर भी क्या यही कहकर जप करूँगी?" माँ बोलीं, "वह तो हरिनाम की माला है ।" हरिनाम की माला जप करने में अधिक समय लगता था और माँ ने रुद्राक्ष की माला के साथ जो मन्त्र जपने को कहा था, उसका जप करने से जप जल्दी हो जायेगा – यह सोचकर मैंने पुन: हरिनाम की माला जप के बारे में पूछा । माँ मेरे मन का भाव समझकर बोलीं, "वही करो, जल्दी हो जायेगा ।"

सझली भाभी ने एक रात में सपना देखा कि उन्हें श्री माँ को लाल किनारी की साड़ी देनी होगी । इस कारण एक दिन लाल किनारी की एक साड़ी खरीदकर वे श्री माँ के घर गयीं। मैं भी उनके साथ गयी थीं । सझली भाभी ने स्वप्न का वृत्तान्त सुनाया और वस्त्र को माँ के चरणों के नीचे रख दिया । माँ ने थोड़ा हँसते हुए वस्त्र को हाथ में लेकर उसे पहन लिया । थोड़ी देर बाद उन्होंने उसे फिर से बदलकर कहा, "कैसे पहनूँगी बेटी? लोग कहेंगे, 'परमहंस की स्त्री ने लाल किनारे की साड़ी पहन रखा है!' रहने दो, लायी हो तो उस कपड़े को पहनकर स्नान करने जाया करूँगी ।" माँ शीघ्र ही उड़ीसा जानेवाली हैं, यह सुनकर हम लोग उस दिन लौट आयीं ।

इसके बाद जब वे लौट आयीं, तब मैं और सझली भाभी उनके चरण-दर्शन को बागबाजार गयीं । पुरी की बहुत-सी बातें हुईं । इसके बाद सझली भाभी ने माँ से पूछा कि बाद में उन्होंने वह वस्त्र पहना था या नहीं । माँ बोलीं, "हाँ बेटी, पहना था, कुछ दिन पहनने के बाद किसी को दे दिया ।"

एक अन्य समय सझली भाभी और मैं, श्री माँ का दर्शन करने गयी थीं । माँ के साथ अनेक प्रकार की बातें हो रही थी । हमने कहा, "माँ, हमारा क्या होगा?" माँ बोलीं, "ठाकुर को पुकारो ।" सझली भाभी ने कहा, "हम लोगों ने तो ठाकुर को देखा नहीं, हम तो आपको ही जानती हैं ।" माँ बोलीं, "तुम लोग उस कहानी के गुरु के समान क्या मुझे डूब मरने को कह रही हो? एक शिष्य 'जय गुरु' कहते हुए गुरु के नाम पर विश्वास करके नदी पार हो गया था! गुरु ने देखा । उन्होंने सोचा – मेरे नाम इतना बल है! फिर 'मैं' 'मैं' कहते हुए वे भी पानी में उतरे और डूबकर मर गये ।"

❖ (क्रमश:) ❖

समाचार और सूचनाएँ — (पृ. ४७६ का शेषांश)

हैदराबाद मठ में बच्चों का शिविर

२८ मई को हैदराबाद के रामकृष्ण मठ में ८ से १५ वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए पूरे एक महीने तक चलनेवाले एक शिक्षण-शिविर का आयाजन किया गया । आन्ध्रप्रदेश विधानसभा की अध्यक्ष प्रतिभा भारती इसमें प्रमुख अतिथि के रूप में उपस्थित थीं । इस शिविर में भाग लेनेवाले लगभग ७०० बच्चों को प्रतिदिन योगासन, नीतिशिक्षा, ध्यान तथा भजन आदि सिखाया गया ।

नेत्र-चिकित्सा के लिए शिविर

पोरबन्दर (गुजरात) के रामकृष्ण मिशन ने १८ मई को एक नेत्र-चिकित्सा शिविर का आयोजन किया गया था । इसमें १९० लोगों की चिकित्सा हुई, जिनमें २६ का शल्योपचार किया गया ।

अलसूर (कर्नाटक) के रामकृष्ण आश्रम ने २० मई को एक नेत्र-चिकित्सा शिविर चलाया, जिसमें ११२ लोगों के नेत्रों का ऑपरेशन किया गया ।

राहत-कार्य

खेतड़ी आश्रम द्वारा पशु-राहत – स्थानीय रामकृष्ण मिशन द्वारा चाँदमारी, खेतड़ी आदि गाँवों में २३९ सूखाग्रस्त परिवारों को ४७० गाय आदि पशुओं के लिए १२,७०० किलो चारा वितरण किया गया । जयपुर के रामकृष्ण मिशन द्वारा जोधपुर जिले के जाजिवाल कानान ग्राम में एक पशु-शिविर खोला गया है । इसमें पिछले ९ मई से ३६० गायों आदि को आश्रय देकर उनके भोजन-पानी आदि की व्यवस्था की गयी है ।

पुनर्वास-कार्य

उड़ीसा में भवन तथा स्कूलों का निर्माण - बेलूड़ मठ के रामकृष्ण मिशन शिल्प-मन्दिर द्वारा कानागुली ग्राम के तूफान-पीड़ितों के लिए बनाये जा रहे २६ मकानों का निर्माण प्राय: पूरा हो गया है । इसके अतिरिक्त पुरी रामकृष्ण मिशन के सहयोग से कटांग ग्राम में बनाये जा रहे ३ स्कूलों का निर्माण-कार्य भी प्रगति पर था ।

श्रीरामकृष्ण-शिष्या गौरी-माँ (२)

स्वामी ध्रुवेशानन्द

रामकृष्ण मिशन आश्रम, लखनऊ

❖ (पिछले अंक का शेषांश) ❖

गौरी-माँ उत्तर-पश्चिमी भारत के प्राय: सभी तीर्थों का भ्रमण करते हुए सर्वत्र निष्ठापूर्वक तपस्या तथा ध्यान-धारणा करती रहीं। उसी समय सौराष्ट्र में सुदामापुरी के समीप किसी गाँव में हैजा की महामारी फैली थी और चिकित्सा के अभाव में बहुत-से लोगों की मृत्यु हो रही थी – इसे देखकर गौरी-माँ का मातृहृदय सहानुभूति से विगलित हो उठा। उन्होंने प्रान्तीय सरकार तथा जनसाधारण के सहयोग से इसे दूर किया। यहाँ पर उनके गुरुदेव की 'शिवबोध से जीवसेवा' वाणी उनके अपने जीवन में चरितार्थ होती दीख पड़ती है। परवर्ती काल में पुरुषसिंह स्वामी विवेकानन्द ने इसे कार्यरूप में परिणत करने के संकल्प के साथ ये पंक्तियाँ लिखी थीं –

चारों ओर खड़े हैं ईश्वर बहु रूपों में,
इन्हें छोड़ तुम कहाँ खोज करते हो उनकी।
सब जीवों की प्रेम-सहित सेवा जो करते,
वे ही करते हैं सच्ची पूजा ईश्वर की ।।

द्वारका में जप करते करते गौरी-माँ को बाल-गोपाल रूपी श्रीकृष्ण का दर्शन मिला था। उन्हें पूर्णरूप से पाने की अतृप्त कामना लेकर वे विभिन्न स्थानों में भ्रमण करती हुई वृन्दावन पहुँचीं। वहाँ भी श्रीकृष्ण का दर्शन न होने पर वे आत्मविश्लेषण हेतु रात को ललिता कुंज में उपस्थित हुईं। ठाकुर ने कहा है, "जैसे आकाश में लालिमा फैल जाने पर हम समझ जाते हैं कि सूर्योदय में अब देर नहीं है, वैसे ही तीव्र व्याकुलता होने पर समझ लेना ईश्वर-दर्शन में ज्यादा देर नहीं है।" अनेक महापुरुषों के जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं।

गौरी-माँ भी इसी व्याकुलता के कारण प्राण त्यागने का दृढ़ संकल्प लेकर ललिता कुंज में गयी थीं, परन्तु वहाँ एक अद्भुत दर्शन पाकर वे अपूर्व आनन्द में अभिभूत हो सुध-बुध खो बैठने के कारण धरती पर गिर पड़ी थीं। ईश्वर-दर्शन रूप उनके जीवन का चरम उद्देश्य सिद्ध हो चुका था। इधर मथुरा में रहनेवाले उनके काका श्यामाचरण खबर पाकर उन्हें साथ में लेकर कलकत्ते गये और जननी गिरिबाला के हाथ सौंप आये। माँ तथा अन्य सम्बन्धी उन्हें पाकर बड़े प्रसन्न तथा उनकी भ्रमण-गाथा सुनकर तृप्त हुए। पर संन्यासाश्रमी के लिए दीर्घकाल तक घर में ठहरना अनुचित जानकर वे कुछ दिन वहाँ बिताने के बाद वे 'शीघ्र वापस आयेंगी' कहकर श्रीक्षेत्र (पुरी) में पुरुषोत्तम का दर्शन करने को निकल पड़ीं।

पुरी-मन्दिर के पुजारी तथा अन्य लोग उनकी निष्ठा-भक्ति तथा पाण्डित्य पर मुग्ध हुए। कोठार के जमींदार बलराम बाबू के पिता राधारमण बसु भी मुग्ध होकर उनको आमंत्रित करके अपने घर ले गये तथा उन्हें कलकत्ते के अपने घर तथा वृन्दावन के 'कालाबाबू के कुंज' में निवास करने का आमंत्रण दिया। पुरी से गौरी-माँ ने नवद्वीप की ओर प्रस्थान किया।

अन्य वैष्णवों के समान उनका भी विश्वास था कि 'यमुना-तट-विहारी यशोदा-नन्दन ने ही भक्तों की आकुल पुकार में स्वयं को छिपाये रखकर श्री चैतन्यदेव के रूप में गंगातट पर शचीदेवी की गोद में पुन: जन्म लिया हैं।' यही कारण है कि नदिया उनके लिए अतिप्रिय तीर्थस्थान था। वे कहतीं, "नवद्वीप मेरी ससुराल है।" नवद्वीप से लौटकर कुछ दिन उन्होंने वाराणसी में बिताये और तत्पश्चात् वृन्दावन में कालाबाबू के कुंज में जा पहुँचीं। वहाँ बलराम बाबू ने उन्हें बताया, "दीदी, दक्षिणेश्वर में एक महापुरुष रहते हैं। उनके सनक-सनातन जैसे भाव हैं। भगवच्चर्चा आरम्भ करते ही उन्हें समाधि हो जाती है। तुम एक बार जरूर उनके दर्शन करना।" गौरी-माँ ने इस बात पर ध्यान न देकर, केदार-बद्री के दर्शनार्थ यात्रा की; परन्तु अपनी माता की अस्वस्थता का समाचार पाकर वे कलकत्ते चली आयीं। कुछ दिन बाद माँ गिरिबाला को कुछ स्वस्थ देखकर वे फिर पुरी चली गयीं। वहाँ पर भी हरेकृष्ण मुकर्जी नामक एक वृद्ध सज्जन उनसे बोले, "बेटी, दक्षिणेश्वर में मैंने एक असाधारण महापुरुष को देखा है। उनका रूप अलौकिक है; वे ज्ञान तथा प्रेम से परिपूर्ण हैं और उन्हें बारम्बार समाधि होती है। पुरी से लौटकर जब वे बलराम बाबू के घर में ठहरी थीं, तो उन्होंने पुन: उन्हें दक्षिणेश्वर जाने की सलाह दी। परन्तु उस समय भी कोई आकर्षण अनुभव न करने के कारण गौरी-माँ ने उन्हें बताया, "दादा, जीवन में अनेक साधुओं का दर्शन हुआ है! अब किसी नये साधु का दर्शन करने की इच्छा नहीं है। तुम्हारे साधु में यदि क्षमता हो, तो वे ही मुझे खींचकर ले जायँ, मैं स्वयं नहीं जाऊँगी।"

एक दिन सचमुच ही अप्रत्याशित रूप से वह खिंचाव आ गया। प्रात:काल उन्हें दामोदर जी के सिंहासन पर जीवन्त चरण-युगल दिखाई दिये। उन्होंने जितनी बार भी दामोदर जी को फूल तथा तुलसीदल अर्पित किये, उतनी बार वे सब उन्हीं चरण-युगल पर जाकर पड़े। विलम्ब होते देखकर बसु महाशय की धर्मपत्नी ने द्वार को थोड़ा-सा खोलकर देखा कि

गौरी-माँ बाह्यज्ञान खोकर भूमि पर पड़ी हैं। तीन-चार घण्टे की सेवा के उपरान्त बाह्यसंज्ञा लौट आने पर भी वे बोल नहीं पा रहीं थी, उन्हें अनुभव हो रहा था मानो कोई उनके हृदय को धागे से बाँधकर खींच रहा हो। दिन और रात इसी प्रकार बीत गये। भोर में गौरी-माँ को बाहर जाते देखकर द्वारपाल ने बलराम बाबू को सूचित किया। उन्होंने आकर गौरी-माँ से पूछा, "दीदी, दक्षिणेश्वर में महापुरुष के पास चलोगी?"

गौरी-माँ की चुप्पी को उनकी सम्मति मानकर बलराम बाबू उन्हें तथा अपनी पत्नी को गाड़ी में साथ लेकर दक्षिणश्वर जा पहुँचे। श्रीरामकृष्ण के कमरे में जाकर उन लोगों ने देखा कि वे एक लकड़ी के टुकड़े में धागा लपेट रहे थे और मन-ही-मन गुनगुना रहे थे – "(भावार्थ) हे माँ, यशोदा तुम्हें नीलमणि कहकर नचाया करती थी। हे करालमुखी, तुमने अपना वह रूप कहाँ छिपा लिया है। आदि ...।"

इन लोगों के कमरे में प्रविष्ट होने के साथ ही उनका धागा लपेटना बन्द हो गया। गौरी-माँ ने भी अनुभव किया कि उनके हृदय की पीड़ा दूर हो चुकी है। फिर प्रणाम करते हुए उन्होंने देखा कि ये तो वे ही पूर्वदृष्ट सजीव चरण-युगल हैं। तब गौरी-माँ को अपनी दीक्षा की बात भी याद हो आयी और उन्होंने अपने गुरुदेव को पहचान लिया।

'रामकृष्ण-पोथी' में है – श्रीरामकृष्णदेव ने अंगुली से गौरी-माँ की ओर इंगित करते हुए बलराम बाबू से पूछा, "ये भक्तिमती कौन हैं? इनका परिचय बताइये। मुखमण्डल अनजाना तो नहीं है। इन्होंने लज्जा, घृणा, भय तीनों को छोड़ दिया है; घर भी त्याग दिया है। ये प्रेम से भरी हुई कृष्ण को पाने के लिए विदेशिनी हुई हैं।" दीर्घकाल के उपरान्त फिर से पिता-पुत्री का मिलन गंगाजी के किनारे हुआ। उस समय गौरी-माँ की उम्र २५ वर्ष थी।

गीता में कहा गया है – **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया** अर्थात् प्रणाम, प्रश्न तथा सेवा के द्वारा गुरु से वह ज्ञान प्राप्त करो। गौरी-माँ भी अगले दिन से ही दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्ण की सेवा में लग गयीं। ठाकुर उन्हें नौबतखाने में माँ श्री सारदादेवी के पास ले जाकर बोले, "सुनो ब्रह्ममयी, तुमने एक संगिनी माँगा था न, यह लो आ गयी।" इसके बाद से जब भी श्री माँ दक्षिणेश्वर में रहतीं, गौरी-माँ भी उनके साथ निवास करतीं, अन्यथा कलकत्ते चली जातीं।

गौरी-माँ के विषय में रामलाल दादा ने लिखा है, "गौरी-माँ स्वयं ही ठाकुरजी के लिये विशेष प्रकार की भोज्य सामग्री बनाकर उन्हें खिलाती और अपने मधुर कण्ठ से उच्च भाव के भजन तथा कीर्तन सुनाकर उन्हें समाधिस्थ कर देतीं। ... ठाकुर एक महा-तपस्विनी, भाग्यवती तथा ज्ञानवती के रूप में गौरी-माँ का उल्लेख किया करते थे।"

उपरोक्त कथन का स्पष्ट प्रमाण उस समय देखने को मिला, जब ठाकुर ने विलियम साहब को गौरी-माँ का दर्शन करने को कहा। विलियम साहब यथासमय गौरी-माँ से मिले और उन्हें 'मदर मेरी' सम्बोधित करते हुए प्रणाम करके उनसे भक्तिलाभ हेतु आशीर्वाद देने की प्रार्थना की। स्वामी सारदानन्द जी का कहना है – "ठाकुर बताते थे कि गौर (गौरी-माँ) कृपासिद्ध गोपी है – व्रज की गोपी।"

ठाकुर के अवतारत्व के विषय में गौरी-माँ प्रारम्भ से ही नि:सन्देह थीं। एक बार एक भक्त से चर्चा करते हुए वे बोलीं, "जो चैतन्य महाप्रभु थे, वे ही मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण हैं। दोनों अभेद हैं।" यह सुनकर भक्त द्वारा प्रतिवाद किये जाने पर गौरी-माँ व्यथित होकर उठ खड़ी हो गयीं और दृढ़ स्वर में बोलीं, "जो राम, जो कृष्ण, वे ही इस युग में रामकृष्ण।" और तत्काल वहाँ से चली गयीं, क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि गुरुनिन्दा कभी सहन नहीं करनी चाहिए।

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन गौरी-माँ से पूछा, "अच्छा बेटी, मेरे बारे में तुम्हारा क्या मत है?" वे बोलीं, "आप और कौन हैं? आप वही हैं, जिनके विषय में भागवत (१.३.२८) में कहा गया है – **एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान स्वयं** – एकमात्र श्रीकृष्ण ही साक्षात् भगवान हैं और बाकी मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों में कोई उनके अंश, तो कोई विभूति हैं।"

गौरी-माँ के दक्षिणेश्वर-निवास के दौरान एक दिन ठाकुर ने उन्हें संन्यास के वस्त्र देकर अन्य विधियाँ स्वयं पूरा कर लेने को कहा; हवन में उन्होंने भी एक बिल्वपत्र की आहुति दी थी।

कलकत्ता की महिलाओं की दशा को देखकर ठाकुर का हृदय बड़ा द्रवित होता था; अत: वे गौरी-माँ को उन्हें धर्म की बातें सुनाने की प्रेरणा दिया करते थे। एक दिन पुष्प-चयन करते समय ठाकुर ने गौरी-माँ से कहा था, "देख, मैं पानी ढालता हूँ और तू गारा सान।" गौरी-माँ को इसका अर्थ न समझ पाते देखकर ठाकुर समझाते हुए बोले, "इस देश की स्त्रियों को बड़ा दु:ख-कष्ट है। तुम्हें उनके बीच रहकर कार्य करना होगा।" उस प्रभात की वेला में भारतीय गृहों की ओर ताकते हुए शिष्या ने अपने मानस-नेत्रों से देखा कि अज्ञान या अविवेक ने पुंजभूत होकर यहाँ के मूक नारी-हृदय को पाषाण के समान दबा रखा है; जबकि शास्त्र में मिलता है –

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम: ।।

और यह भी कहा है – **त्वम् स्त्री: त्वमीश्वरी: त्वम् ह्रीं** – तुम्हीं लक्ष्मी, तुम्हीं ईश्वरी और तुम्हीं ह्रीं हो।

गुरु के द्वारा ज्ञानांजन रूपी शलाका से खुले हुए दिव्य नेत्रों में नवीन भावों के उद्रेक से उन्हें यह सब देखने को मिला। आज उनके मातृहृदय को नया आघात लगा। वस्तुत:

नारी की व्यथा यदि नारी न समझे, तो भला दूसरा कौन इसका अनुभव करके इसके निराकरण का प्रयास करेगा?

श्रीरामकृष्ण की अभिनव प्रेरणा से गौरी-माँ के प्रेम-भक्ति-तपस्या पूत जीवन में जो नवीन भाव-स्रोत प्रवाहित हो रहा था, श्री सारदेश्वरी आश्रम तथा बालिका विद्यालय उसी का फल था। पर तपस्या की प्रबल इच्छा के कारण वे श्रीरामकृष्ण की अनुमति लेकर वे वृन्दावन गयीं और वहाँ नौ महीने सुबह से शाम तक एक ही आसन पर बैठकर साधना करती रहीं। इधर श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण का समय आ पहुँचा। गौरी-माँ को इस आशय की सूचना भेजी गयी, परन्तु यथासमय यह समाचार उन तक पहुँच नहीं सका। अंतत: गौरी-माँ को न देखकर ठाकुर बोले, "इतना निकट रहकर भी आखिर अन्त्य-लीला नही देख सकी। यह बात मेरे हृदय में बिल्ली जैसा खरोंच रही है।" १८८६ ई. के १५ अगस्त को उन्होंने अपना स्थूल त्यागकर महासमाधि ली। बाद में समाचार पाकर गौरी-माँ पितृहीन कन्यावत् भूमि पर लोट-लोटकर रोने लगीं।

ठाकुर के देहावसान के उपरान्त एक दिन श्री माँ अपने अंगों से सोने के आभूषण उतार रहीं थीं, तभी ठाकुर उनके सम्मुख आविर्भूत होकर उनका हाथ पकड़कर बोले, "मैं क्या मर गया हूँ, जो तुम विधवा का वेष धारण करोगी? गौरदासी से पूछना, वह सब शास्त्र जानती है।"

बाद में गौरी-माँ से भेंट होने पर श्री माँ द्वारा इस विषय में पूछे जाने पर वैष्णव शास्त्रों में निष्णात गौरी-माँ शास्त्र की उक्तियों का उद्धरण देते हुए बोलीं, "ठाकुर श्रीरामकृष्ण नित्य वर्तमान हैं और तुम स्वयं लक्ष्मी हो। तुम्हारे द्वारा सधवा का वेष त्यागने पर जगत् का अकल्याण होगा।"

वृन्दावन से हिमालय और दक्षिण भारत तक के तीर्थों का दर्शन करने के बाद गौरी-माँ कलकत्ते लौट आयीं। अपने अनुरागियों के अनुरोध पर श्री माँ की अनुमति लेकर उन्होंने सन्त रामप्रसाद की जन्मभूमि के पास बैरकपुर में दो बीघे जमीन खरीदकर श्री सारदेश्वरी आश्रम एवं नि:शुल्क बालिका विद्यालय आरम्भ किया। यहीं से उनके जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ। एक एक कर कुमारियों और सधवा तथा विधवा महिलाओं ने उनके चरणों में बैठकर विद्यार्जन आरम्भ किया। भारत के प्राचीन आदर्शों का अनुसरण करते हुए महिलाओं को शिक्षित करना ही उनका उद्देश्य था।

आदर्शों का प्रचार तथा आश्रम-प्रबन्ध आदि कार्य यथेष्ट गम्भीरतापूर्वक चलाते हुए भी उनकी दृष्टि चरित्र-निर्माण के कार्य पर विशेष रूप से लगी रहती थी। वे संन्यासिनियों का एक ऐसा संघ तैयार करना चाहती थीं, जो पूरी तौर से नारी-जाति की सेवा में लग सके। उपयुक्त पात्र मिल जाने पर वे उसे हर प्रकार से आदर्शोन्मुख करती थीं। उनके विद्यालय की बालिकाओं में से कई आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए यथासमय संन्यास व्रत धारण करने में समर्थ हुईं।

'स्वामी विवेकानन्द के संग में' ग्रन्थ से लगता है मानो गौरी-माँ ने स्वामी विवेकानन्द के विचारों को ही मूर्त रूप देने का प्रयास किया था। एक बार स्वामीजी अपने शिष्य शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को साथ लेकर एक महाराष्ट्रीय माताजी द्वारा स्थापित एक बालिका विद्यालय देखने गये। मार्ग में वे शिष्य से बोले, "तेरे देश मे महिलाओं की शिक्षा के लिये बिल्कुल भी चेष्टा दिखाई नहीं पड़ती। तुम लोग लिख-पढ़कर आदमी बन गये, पर जो तुम लोगों के सुख-दु:ख की भागीदार हैं, सदा मन-प्राण लगाकर तुम लोगों का सेवा करती हैं, उनकी शिक्षा तथा उन्नति के लिए तुम लोगों ने क्या किया है?"

शिष्य ने उत्तर दिया, "क्यों महाराज, आजकल महिलाओं के लिये कितने स्कूल, कॉलेज खुल गये हैं, कितनी महिलायें बी.ए., एम.ए. पास कर चुकी हैं।"

स्वामीजी बोले, 'यह सब तो बिलायती ढंग से हुआ। तुम्हारे शास्त्रों के अनुसार देश में कितने स्कूल बने? इसलिए मेरी कुछ ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणियाँ तैयार करने की इच्छा है। ब्रह्मचारिणियाँ नारियों में शिक्षा का विस्तार करेंगी। ... पुराण, इतिहास, शिल्प, घर के काम-काज के नियम तथा आदर्श चरित्र-गठन की सहायक नीतियों को वर्तमान विज्ञान की सहायता से उनके सामने रखना होगा। छात्राओं को धर्म तथा नीतिपरायण बनाना होगा। ... पहले महिलाओं को ऊपर उठाना होगा, जनसाधारण को जगाना होगा, तभी देश का – भारत का कल्याण होगा।"

इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु आश्रम को केन्द्र बनाकर गौरी-माँ ने जो सेवाकार्य आरम्भ किये, उनमें चार तरह की गतिविधियाँ चलायी जाती थीं – १. हिन्दू धार्मिक तथा सामाजिक आदर्शों के अनुरूप नारीशिक्षा का प्रचार-प्रसार। २. इस निमित्त शिक्षा का व्रत लेनेवाली महिलाओं का एक संघ-गठन। ३. अच्छे कुलों की दीन-हीन बालिका तथा विधवाओं को आश्रय देना। ४. आदर्श जीवन बिताने में स्त्रीजाति की सहायता करना।

सन् १९०० में उन्होंने कलकत्ते में एक मातृसभा का आयोजन किया। इसमें वे हिन्दू नारी के आदर्श, आश्रम के उद्देश्य पर बोलीं और इस विषय में महिलाओं को उनके कर्तव्यों की याद दिलाते हुए उनके समक्ष अपने हृदयस्पर्शी विचार रखे। संन्यासिनी माताजी के तेजोद्दीप्त शब्दों में महान् आदर्श का निरूपण तथा उनका शास्त्रज्ञान देखकर सभी लोग मुग्ध हो गये। गौरी-माँ के आचरण तथा कार्य से प्रभावित होकर क्रमश: बहुत-से गणमान्य लोग सहायता के लिए आगे आये। आश्रम के कार्य में विस्तार होने पर गौरी-माँ ने पहले तो कलकत्ते के किराये के मकान में और तदुपरान्त २६ नं.

महारानी हेमन्त कुमारी स्ट्रीट में चार बिघे जमीन खरीदकर वहाँ एक स्थायी आश्रम बनाया । धीरे धीरे आश्रम के अन्तेवासिओं की संख्या ५० तथा स्कूल की छात्राओं की संख्या ३०० तक जा पहुँची । आश्रम की आर्थिक व्यवस्था के विषय में वे कहतीं, "जिन्होंने मुझे कार्यक्षेत्र में उतारा है, वे ही इसे चलायेंगे । इसमें बाधा-विघ्न आने पर भी मुझे कोई दु:ख नहीं होगा और प्रशंसा होने पर भी उसमें मेरा कोई श्रेय नहीं ।"

यहाँ हमें स्पष्टत: गीता के निष्काम कर्म के भाव दृष्टिगोचर होते हैं । शुरू में आश्रम की आर्थिक अवस्था बड़ी खराब थी । कभी कभी जब रसोई के लिए कोई सामग्री नहीं रह जाती, तब गौरी-माँ कन्धे पर झोला लिए भिक्षा माँगकर चावल-दाल, सब्जी आदि ले आतीं और उसे पकाकर सबको खिलातीं । इन कठिनाइयों के बावजूद सभी आश्रमवासिनियाँ एक तरह के आन्तरिक आनन्द का अनुभव करतीं । आश्रम के अभावों की बात सुनकर एक बार स्वामीजी ने कहा था, "गौरी-माँ के आश्रम के लिये अपने-आप यथेष्ट धन आ जाना चाहिये था।"

स्वामीजी जब परिव्राजक के रूप में भारत-भ्रमण कर रहे थे, तब कभी कभी उनकी गौरी-माँ से भेंट हो जाती थी । ऐसे ही एक बार जब गौरी-माँ वृन्दावन में तपस्या-रत थी, तो एक संध्या स्वामीजी सहसा उनके पास पहुँचकर बोले, "गौरी-माँ, बड़ी भूख लगी है, खाने को दो ।" उस समय गौरी-माँ के पास खाने की कोई चीज न थी, अत: उन्होंने एक पहचान के दूकानदार को नींद से उठाया और उससे कुछ चीजें लाकर उन्होंने स्वामीजी को भोजन कराया । गौरी-माँ की जीवनी में हम देखते हैं कि हरिद्वार में कुछ काल वे स्वामीजी के सान्निध्य में रहीं । उनकी माँ गिरिबाला भी उस समय वहीं थीं, जिन्हें स्वामीजी 'नानी-माँ' कहकर पुकारते तथा व्यंग-विनोद का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते । गिरिबाला भी स्वामीजी के साथ ऐसा ही व्यवहार करती थीं । गौरी-माँ द्वारा बनाया गया भोजन और विशेषकर अनेक सब्जियों को मिलाकर बनी खिचड़ी को स्वामीजी तथा उनके गुरुभ्रातागण बड़ा पसन्द करते थे । एक बार स्वामीजी ने परिहासपूर्वक गौरी-माँ से कहा था, "गौरी माँ, तुम्हारे मर जाने पर हम तुम्हारा दाहिना हाथ काटकर रख लेंगे । प्रसाद खाने की इच्छा होने पर तुम्हारा वही हाथ हमारे लिए रसोई बना देगा ।"

अपनी विदेश-यात्रा के बाद स्वामीजी के कलकत्ते लौटने पर गौरी-माँ ठाकुर का प्रसाद लेकर उनसे मिलने गयीं । स्वामीजी उनसे बोले, "मैं उन लोगों के समक्ष तुम्हारी बातें कह आया हूँ । अब तुमको ले जाकर उन लोगों को दिखाऊँगा कि हमारे भारतवर्ष में कैसी महिलाएँ जन्म लेती हैं ।" परन्तु गौरी-माँ भारत छोड़कर विदेश जाने को राजी नही हुईं ।

अपने देहत्याग के कुछ काल पूर्व एक दिन स्वामीजी ने गौरी-माँ के साथ उनके आश्रम के विषय में विस्तार से चर्चा की और बोले, "अब मेरा कार्य प्राय: समाप्ति पर है । महिलाओं के लिए कार्य मैं तुम्हारे भरोसे छोड़ता हूँ ।" बात पूरी होने से पहले ही गौरी-माँ बोल उठीं, "ऐसी अशुभ बात मत कहो ।" थोड़ी देर गम्भीर रहने के बाद स्वामीजी पुन: बोले, "गौरी-माँ, ठाकुर की बात से क्या जरा भी इधर-उधर होने का कोई उपाय है?" इसके बाद वे हँसते हुए बोले, "तुम माताएँ मुझे चिरकाल तक छोटा बालक बनाकर अपने पास रखना चाहती हो । ऐसा भी कहीं होता है?"

१९०२ ई. की ४ जुलाई की संध्या के पश्चात् गौरी-माँ ठाकुर की आरती कर रही थीं । तभी वे सहसा आर्तनाद कर उठीं, "मठ में सर्वनाश हो गया रे! लगता है नरेन्द्र चले गये ।" उपस्थित लोगों में से कोई कोई कुछ घण्टे पूर्व ही स्वामीजी को मठ में घूमते हुए देख आये थे । इसलिये वे लोग सहज ही विश्वास नहीं कर सके । बाद में पता लगाने से ज्ञात हुआ कि स्वामीजी सचमुच महाप्रयाण कर चुके हैं ।

माँ श्री सारदादेवी तथा गौरी-माँ एक-दूसरे को किस दृष्टि से देखती थीं, इस विषय में हम दो-एक घटनाओं का उल्लेख करेंगे । एक बार दक्षिणेश्वर में ठाकुर ने माँ को दिखाते हुए कुतूहलवश गौरी-माँ से पूछा था, "तू किससे अधिक प्रेम करती है?" गौरी-माँ ने एक भजन के माध्यम से उत्तर दिया, जिसका आशय इस प्रकार है, "हे बाँके-वंशीधारी, तुम राधा से बड़े नहीं हो । लोगों को विपत्ति आने पर वे तुम्हें 'मधुसूदन' कहकर पुकारते हैं; परन्तु जब तुम्हें कष्ट होता है, तो तुम वंशी पर 'राधे राधे" की टेर लगाते हो ।" यह भजन सुनकर माताजी ने लज्जित होकर गौरी-माँ का हाथ पकड़ लिया और ठाकुर जी हँसते हुए वहाँ से चले गये ।

गौरी-माँ की बहुमुखी प्रतिभा का उल्लेख करते हुए श्री माँ ने कहा था, "जो बड़ा होता है वह एक ही होता है, उसके साथ दूसरे की तुलना नहीं होती है, जैसे गौरदासी ।"

दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा के दौरान वहाँ की एक सभा में महिलाओं द्वारा श्री माँ से कुछ कहने का अनुरोध किये जाने पर वे बोलीं, "यदि गौरदासी आती, तो भाषण देती ।" कहना न होगा कि गौरी-माँ के व्याख्यान तथा शास्त्र-व्याख्या सुनकर लोग मंत्रमुग्ध हो जाया करते थे । उनका संस्कृत उच्चारण सुनकर पुरी मन्दिर के पुरोहितों ने कहा था, "महिलाओं की तो बात ही क्या, पुरुषों में भी बहुत कम ऐसे होंगे, जो इतनी शुद्धता के साथ संस्कृत शब्दों का उच्चारण कर सकते हैं ।" परवर्ती काल में गौरी-माँ ने भक्तों के आग्रह पर कूचबिहार, ढाका, मैमनसिंह, शिलांग, राँची आदि अनेक स्थानों पर ठाकुर का नाम तथा भाव-प्रचार और व्याख्यान दिया था ।

वज्रादपि कठोरानि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ।।

– "लोकोत्तर महापुरुषों का का चित्त वज्र से भी कठोर तथा कुसुमों से कोमल होता है, उसे भला कौन समझ सकता है ।" गौरी माँ के जीवन में भी ऐसा ही दिखायी पड़ता है ।

गौरी-माँ एक ओर आश्रम की बालिकाओं में अनुशासन के विषय में जैसी कठोर थीं, दूसरी ओर वे वैसी ही समता के साथ सायंकाल उन लोगों के साथ मिलकर मैदान में खेलती भी थीं । उनकी तेजस्विता तथा स्पष्टवादिता के सम्बन्ध में श्री माँ ने कहा था, "तुम्हारे डर से ही सब ठीक होकर चलते हैं, बेटी!" उन्होंने गौरी-माँ के आश्रम में अनेकों बार पदार्पण भी किया था और आशीष देते हुए कहा था, "आश्रम का भविष्य भयमुक्त होगा" । वे अनेक लोगों से कहा करती थीं, "गौरदासी के आश्रम की दिये की बाती को भी जो लोग थोड़ा-सा उठा देंगे, वैकुण्ठ भी उनका खरीदा हुआ होगा ।"

गौरी-माँ कई बार श्री माँ के साथ वृन्दावन, पुरीधाम आदि तीर्थों का भ्रमण करने गयी थीं । बीच-बीच में वे जयरामबाटी जाकर भी उनके साथ रहती थी । वे विविध उपचारों के साथ माँ की भगवती ज्ञान से पूजा करती थीं । एक बार दुर्गापूजा के समय वे माँ के सम्मुख चण्डी-पाठ, हवन आदि सम्पन्न करने के बाद उनके चरणों में १०८ लाल कमलों की अंजलि प्रदान करके बोलीं, "माँ, साक्षात् सर्वार्थसाधिका चण्डी के सामने सप्तशती-पाठ करके आज मेरा पाठ परिपूर्ण हुआ । इसके बाद भी तुम जैसे कराओगी, वैसे ही पाठ करूँगी ।"

अपने इष्टदेव दामोदर जी के समान ही, अन्य सभी जीवों के प्रति भी उनका प्रेमभाव था । जीवों के प्रति उनका हार्दिक अनुराग ऐसा था कि वे उनके लिये सब कुछ भूल जाती थीं । आश्रम के गो-बछड़ों की देखभाल करनेवाले लोगों के बीमार या अनुपस्थित होने पर वे स्वयं उनकी देखभाल कर लेती थीं। एक बार कुछ बन्दर एक कुत्ते के बच्चे को छत पर उठा ले गये और उसे तंग करने लगे । छत पर जाने के लिये दूसरी कोई सीढ़ी न थी । गौरी-माँ अपने जीवन को दाँव पर लगाकर किसी प्रकार छत पर चढ़ीं और कुत्ते के बच्चे के प्राण बचाए ।

ऐसी ही और भी अनेक घटनाएँ हैं; यथा एक बार एक लड़की गंगाजी में बही जा रही थी । कुछ लोग किनारे पर खड़े होकर इसे देखकर केवल हाय हाय किये जा रहे थे । गौरी-माँ गरज उठीं, "एक व्यक्ति डूब रहा है और तुम मरद लोग खड़े खड़े तमाशा देख रहे हो?" इतना कहकर ही वे पानी में कूद पड़ीं । तब किनारे खड़े लोगों को भी होश आया और लड़की की प्राण-रक्षा हुई । स्वामी विवेकानन्द ने एक वक्तृता में कहा था, "यदि कोई महिला मन-प्राण से पवित्र हो और उसने आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया हो तो किसी पुरुष में सामर्थ्य नहीं है कि वह उसकी ओर दुर्भावपुर्वक देख सके ।" इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त हमें गौरी-माँ के जीवन में देखने को मिलता है । एक बार संध्या के समय वे कालीघाट से अकेली आ रही थीं । एक छोटी गली में प्रवेश करते ही तीन-चार शराबी-युवक उनके पीछे लग गये । गौरी-माँ ने सहसा पीछे मुड़कर मधुर, पर दृढ़ स्वर में पूछा, "तुम लोग कौन हो?" इतना सुनते ही वे दुष्टबुद्धि लोग भय से जमीन पर गिरकर छटपटाने और 'माँ रक्षा करो' कहकर रोने लगे । "फिर कभी माताओं के प्रति ऐसी हीनबुद्धि मत रखना । जाओ, इस बार छोड़ देती हूँ" – कहकर गौरी-माँ आगे चल पड़ीं ।

नाम-यश के बारे में उनका विचार था, "प्रतिष्ठा शूकरी-विष्ठा है । निष्काम भाव से कर्म करते जाना चाहिए । दूसरों की सेवा करते समय मन में यदि आत्मप्रशंसा का भाव आता है, तो साधक जीवन में इसे आत्महत्या के तुल्य समझना ।"

वे स्वयं भी कहीं अपना नाम देखने से नाराज हो जातीं और कहतीं, "श्री ठाकुर और श्री माँ का ही नाम होगा ।"

गौरी-माँ ने श्रीरामकृष्ण, श्री माँ तथा विभिन्न देवी-देवताओं पर अनेक कविताओं, गीतों, स्तोत्रों आदि की रचना की थी । इनमें से किसी किसी को वे आश्रम में नित्य आरती के बाद गाती थीं । उम्र बढ़ने के साथ साथ गौरी-माँ का स्वास्थ्य भी बिगड़ रहा था तथा उनकी शारीरिक दुर्बलता बढ़ती जा रही थी । अन्त तक उन्हें वार्धक्यजनित दुर्बलता को छोड़ अन्य कोई बीमारी नहीं हुई । जीवन के असंख्य कार्यों के भीतर भी उनके साधन-भजन का कोई व्यतिक्रम नहीं होता था और वे अधिकांश समय भावसमाधि में निमग्न दीख पड़ती थीं । नके जीवन के अन्तिम कुछ दिन तो मानो सर्वदा दामोदर के साथ ही भावराज्य में बीते थे । कभी वे उनसे बातें करतीं, तो कभी उन पर फूल चढ़ातीं और कभी कभी भावावेश में उनके मुख से दिव्य ओज फूटकर निकलने लगता था । १९३३ ई. के फाल्गुन महीने के शिव चतुर्दशी के दिन वे बोली, "ठाकुर धागा खींच रहे हैं ।" एक बार उस खिंचाव से वे दक्षिणेश्वर में जा पहुँची थीं और किसी के लिए भी यह समझना बाकी नहीं रहा कि इस बार का खिंचाव नित्य-मिलन का खिंचाव है । अपराह्न में वे बोली, " हमें अच्छी तरह सजा दो ।" सजने के बाद वे बोलीं, "सुन्दर सजी हूँ, देखो मेरा रथ आ रहा है । पीले रंग के रथ में चढ़कर मैं श्रीरामकृष्ण लोक जाऊँगी ।"

रात के अन्तिम प्रहर में उन्होंने दामोदर को उठाकर अपने सीने में जकड़ लिया । फिर शुभ ब्राह्म मुहूर्त में दामोदर जी का भार दूसरे को सौंपकर गौरी-माँ अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो गयीं । अगला मंगलवार का दिन ठीक से बीत गया, परन्तु संध्या के बाद वे तीन बार "गुरु श्रीरामकृष्ण" उच्चारण करती हुई चिर शान्ति में निमग्न हो गयीं । महातपस्विनी अपने गुरुदेव के महान् उपदेश-व्रत को पूरा करने के बाद उन्हीं के चरणों में विलीन हो गयीं । ❖ (समाप्त) ❖

आचार्य रामानुज (१०)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं.। – सं.)

६. राजकुमारी

श्री रामानुज ने अब घर में ही अपना अध्ययन जारी रखा। उन्होंने अपनी माता तथा मौसी को यादवप्रकाश के बारे में सारी बातें बताकर उन्हें गोपनीय रखने को कहा और स्वयं भी किसी के सामने व्यक्त नहीं किया। यादवप्रकाश तीन माह बाद अपने शिष्यों के साथ कांचीपुर लौटे। गोविन्द के सिवा सभी शिष्य उनके साथ लौट आए थे। पुत्र के बारे में पूछताछ करने पर दीप्तिमती को पता चला कि रामानुज के वन में खो जाने के बाद बाकी तीर्थयात्री भारी हृदय से निरन्तर काशीधाम की ओर चलते रहे। आखिरकार बिना किसी विघ्न के गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के बाद विश्वनाथ का दर्शन करके उन लोगों ने स्वयं को कृतार्थ माना। उन लोगों ने एक पखवारे तक वाराणसी में निवास किया। एक बार वहाँ गंगास्नान करते समय गोविन्द को जल के भीतर एक सुन्दर वाणलिंग प्राप्त हुआ। यादवप्रकाश ने उसे देखकर गोविन्द को अशेष धन्यवाद देते हुए कहा, "बेटा, उमापति तुम्हारे ऊपर अतीव प्रसन्न हैं और इस अमूल्य लिंग के रूप में तुम्हारी सेवा ग्रहण करने को स्वयं ही तुम्हारे समक्ष आए हैं। तुम प्राणपण से यत्नपूर्वक इनकी सेवा करो, तुम्हें भक्ति-मुक्ति दोनों ही प्राप्त होंगी।" गुरु के आदेश पर गोविन्द उसी दिन से शिव-सेवा-परायण हो गये। क्रमश: उनकी भक्ति ऐसी प्रगाढ़ हो गई कि कालहस्ती के समीप पहुँचकर उन्होंने अपने गुरु तथा सहपाठियों से कहा, "मै अपने जीवन का शेष भाग उमापति की सेवा में ही बिताना चाहता हूँ। यह स्थान अतीव मनोरम तथा निर्जन है। यहीं रहकर मैं अपने इष्टदेव की उपासना करूँगा। आप लोग जाकर मेरी माता तथा मौसीजी को इसकी सूचना दे देंगे।" यह कहकर गोविन्द ने उन लोगों से विदा ली और निकट ही मंगलग्राम में एक जगह खरीदकर वहाँ अपने इष्टदेव की स्थापना की। तदुपरान्त वे तन-मन से उनकी सेवा में समर्पित होकर समस्त पार्थिव बन्धनों से मुक्त हो गए।

पुत्र के ऐसे सौभाग्य की बात सुनकर दीप्तिमती के आनन्द का ठिकाना न रहा। वे सामान्य महिलाओं की भाँति पुत्रासक्त न थी। उनकी भी ईश्वर में प्रगाढ़ प्रीति थी; अत: उनके मन में पुत्र के लिये क्षोभ का उदय तो हुआ ही नहीं, बल्कि उन्होंने सत्पुत्र की माता के रूप में स्वयं को कृतार्थ माना। बहन की अनुमति लेकर वे पुत्र को देखने मंगलग्राम गयीं और अपने सन्तान की भगवद्‌भक्ति देखकर परम सन्तुष्ट हुईं। अपने पुत्र को सीने से लगाने तथा आशीर्वाद देने के बाद वे पुन: बहन के पास लौट आईं।

यादवप्रकाश ने पुन: अपना-अध्यापन-कार्य शुरू किया। रामानुज को देखकर पहले तो वे थोड़े भयभीत हुए, परन्तु यह सोचकर कि उसे तो उनके षड़यंत्र के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है, उन्होंने मौखिक आनन्द व्यक्त करते हुए उनकी माता की उपस्थिति में कहा, "बेटा, तुम जीवित हो, इससे बढ़कर मेरे लिये सुख की क्या बात होगी! कैसे बताऊँ कि विन्ध्यारण्य में हम लोग तुम्हारी खोज में कितने परेशान हुए थे!" रामानुज ने उन्हें प्रणाम करते हुए कहा, "सब आपकी अनुकम्पा है।"

जो व्यक्ति समस्त मतों के ऊपर अपने मत की स्थापना कर सकता है, वह विभिन्न विषयों में चाहे जितना भी उन्नत क्यों न हो, उसे संकीर्ण ही होना पड़ेगा। यादवप्रकाश में असंख्य गुण थे, परन्तु अद्वैतवाद को अपनाकर वे अन्य मतों की सुन्दरता, मधुरता एवं सहजता के विषय में बिल्कुल अन्धे हो गये थे। आज रामानुज की विनम्रता एवं सुशीलता देखकर और अपने राक्षसी आचरण को यादकर वे अतीव लज्जित महसूस कर रहे थे। बाद में उन्होंने रामानुज से सस्नेह कहा, "बेटा, आज से तुम मेरे पास पढ़ने आना। ईश्वर तुम्हारा मंगल करें।" उसी दिन से रामानुज अध्ययन के लिये पुन: यादव की पाठशाला में जाने लगे।

इसके कुछ दिन बाद वृद्ध आलवन्दार श्री वरदराज का दर्शन करने की इच्छा से अपने अनेक शिष्यों के साथ कांचीपुर आए। एक बार श्री वरदराज का दर्शन कर लौटते समय महात्मा आलवन्दार ने देखा कि अद्वैतकेसरी यादवप्रकाश रामानुज के कन्धे पर हाथ रखे अपने अन्य शिष्यों के साथ चले आ रहे हैं। वृद्ध यामुनाचार्य रामानुज की सात्त्विक प्रभा, अतुल्य सुन्दरता तथा प्रतिभा-मण्डित मुख देखकर अत्यन्त आकृष्ट हुए। पूछने पर पता चला कि यह युवक ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' मंत्र की भक्तिप्रधान सुविस्तृत व्याख्या का रचनाकार है। इस पर वे परम आनन्दित तो हुए, परन्तु शुष्क

तार्किक यादव के सान्निध्य में उन्हें देखकर चिन्तित भी हुए और वरदराज से उन्होंने प्रार्थना की –

यस्य प्रसादकलया बधिरः शृणोति
पंगुः प्रधावति जवेन च वक्ति मूकः ।
अन्धः प्रपश्यति सुतं लभते च वन्ध्या
तं देवमेव वरदं शरणं गतोऽस्मि ।।
लक्ष्मीश पुण्डरीकाक्ष कृपां रामानुजे तव ।
निधाय स्वमते नाथ प्रविष्टं कर्तुमर्हसि ।।[१]

– "जिनकी थोड़ी-सी कृपा होने पर भी बहरा सुन सकता है, लँगड़ा दौड़ सकता है, गूँगा बोल सकता है, अन्धा देख सकता है तथा वन्ध्या को पुत्रलाभ हो सकता है; मैं उन्हीं वरददेव की शरण लेता हूँ । हे कमलाक्ष लक्ष्मीनाथ! रामानुज पर कृपा करके आप उसे अपने मत में प्रवेश कराइये ।"

यामुनाचार्य विष्णु-प्रेम की चित्ताह्लादकारी कमनीय मूर्ति को भक्तिहीन शुष्कहृदय यादव के सान्निध्य में देखकर अति उद्विग्न थे । रामानुज से वार्तालाप करने की उन्हें तीव्र इच्छा थी, तथापि मधु-विष से युक्त आहार के समान ही वे भारी हृदय से उसे त्याग देने को बाध्य हुए । भविष्य में ईश्वर ने यदि अवसर दिया, तो एकान्त में उसके साथ भेंट करूँगा – अपने चित्त को इस भाँति समझाकर भक्तिपरायण, ज्ञानवृद्ध, शताधिक-वर्ष की आयु के वैष्णवचूड़ामणि, पूज्यपाद आलवन्दार श्रीरंगम लौटे ।

यादवाचार्य वेदान्त के अतिरिक्त मंत्रशास्त्र में भी विशेष पारंगत थे । भूत-पिशाच तथा ब्रह्मराक्षसों द्वारा ग्रस्त व्यक्तियों के लाये जाने पर वे उन्हें मंत्रबल से नीरोग कर देते थे । इस विषय में उनकी ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी ।

एक बार जब कांचीपुर की राजकुमारी ब्रह्मराक्षस द्वारा ग्रस्त हो गयी, तो चारों ओर से विख्यात मांत्रिकों को बुलवाया गया । पर कोई भी राजकुमारी को स्वस्थ कर पाने में समर्थ नही हुआ । बाद में वेदान्ताचार्य यादवप्रकाश को भी बड़े मान-सम्मान के साथ लाया गया । ब्रह्मराक्षस से आक्रान्त राजकुमारी यादव को देखते ही अट्टहास करते हुए बोली, "अरे यादव, यहाँ तुम्हारे मंत्र आदि से कुछ भी काम नहीं बनेगा, बेकार क्यों कष्ट उठा रहे हो, घर लौट जाओ ।" यादव ने उस बात पर ध्यान न देते हुए कई घण्टों तक विविध प्रकार के मंत्रों का उच्चारण किया, परन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिल सकी ।

ब्रह्मराक्षस ने उनसे फिर कहा, "क्यों बेकार तकलीफ पा रहे हो? तुम मुझसे दुर्बल हो, अतः किसी प्रकार से भी मुझे हटा पाने में अक्षम हो । यदि तुम मुझे कोमलांगी राजकुमारी के शरीर से हटाने पर बिल्कुल ही तुले हुए हो, तो तुम जाकर अपने सर्वाधिक अल्पवयस्क, आजानुबाहु, विस्तृत-ललाट, विशाल-नेत्र, प्रतिभादेवी के विश्राम-स्थल, यौवन-उद्यान के सर्वोत्तम पुरुष, माधुर्यनिलय श्रीमान् रामानुज को यहाँ ले आओ । मेघाच्छन्न अमावस्या की रात का सघन अन्धकार जैसे सूर्योदय होने पर चला जाता है, वैसे ही उन महानुभाव के आने पर ही मैं जाऊँगा, अन्यथा मैं नहीं जा सकता ।"

यादव के आदेश पर तुरन्त ही श्रीमान् रामानुज वहाँ लाये गये । जब उन्होंने ब्रह्मराक्षस को राजकुमारी के शरीर से निकल जाने को कहा, तो वह बोला, "आप कृपा करके मेरे मस्तक पर अपने श्रीचरण स्थापित करें, नहीं तो मैं नहीं जाऊँगा । दास की यह अभिलाषा पूर्ण कीजिए ।" गुरु के आदेश पर रामानुज ने राजकुमारी के सिर पर अपने दोनों चरण स्थापित करते हुए कहा, "अब तुम राजपुत्री को छोड़ दो और अपने चले जाने का कोई प्रमाण दिखाते जाओ ।" ब्रह्मराक्षस बोला, "मैंने छोड़ दिया । प्रमाण के रूप में मैं समीपवर्ती अश्वत्थ वृक्ष की एक ऊँची शाखा तोड़ते हुए जाऊँगा ।"

देखते-ही-देखते अश्वत्थ की एक ऊँची डाल चरमराकर टूट गई और राजकुमारी भी मानो निद्रा से उठकर इधर-उधर देखने लगीं । बाद में पूरी चेतना लौट आने पर अपनी अवस्था के विषय में किंचित् अवगत होकर उसने लज्जा से मुख झुका लिया और दासियों से आवृत्त होकर अन्तःपुर में चली गई ।

कन्या के स्वस्थ हो जाने की वार्ता सुनकर कांचीनरेश भी द्रुतवेग से वहाँ आ पहुँचे और रामानुज की चरण-वन्दना करते हुए अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की । उसी दिन से श्री रामानुज का नाम पूरे चोल राज्य में विख्यात हो गया ।

पूर्वोक्त भूतावेश की बात हमें केवल रामानुज के चरित में ही सर्वप्रथम देखने को मिली हो, ऐसा नहीं है । ईसा की जीवनी से भी हमें ऐसी घटनाओं का पता चलता है । बंगाल आदि प्रदेशों में अब भी अनेक स्थानों पर महिलाओं के प्रेतग्रस्त होने की बात सुनने में आती है । पाश्चात्य वैज्ञानिक ऐसी अवस्था-प्राप्त व्यक्ति को हिस्टीरियाग्रस्त कहते हैं । इसका कारण स्नायविक दुर्बलता है । स्वभाव से कोमल नारी-जाति में स्नायविक दुर्बलता का आधिक्य होता है । इस कारण बहुधा वे ही हिस्टीरिया रोग से आक्रान्त होती हैं । उक्त वैज्ञानिकों का यही सिद्धान्त है । स्नायु ही मानव को मानवत्व प्रदान करता है । स्नायु की दुर्बलता या सबलता से मनुष्य भी दुर्बल या सबल हो जाता है । इस प्रकार उपरोक्त विचारधारा के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्नायु के नाश से मानव का भी नाश हो जाता है ।

आधुनिक वैज्ञानिकों के समान ही हमारे देश में भी काफी काल पूर्व चार्वाक मतावलम्बी भी उपरोक्त निष्कर्ष पर पहुँचे थे । परन्तु आत्मा की नित्यता माननेवालों को वह सिद्धान्त गलत मानना होगा । आत्मा देह की रक्षा करती है, न कि देह आत्मा की रक्षा करता है, क्योंकि यह सर्वजन विदित है कि

१: अनन्ताचार्य कृत 'प्रपन्नामृतम्', ७/३०-३१

आत्मसत्ता के द्वारा ही देह सजीव और आत्मसत्ता के अभाव में निर्जीव हो जाता है। अतएव मानव या आत्मा देह के अधीन नहीं, अपितु देह ही मानव के अधीन है। देह के सहारे मनुष्य जगत् के सुख-दुःख आदि का भोग करता है। इच्छामय आत्मा सर्वदा ही देह की सहायता से विषय-भोग के लिये आतुर रहती है। यह आत्मा स्थूल देह से युक्त होने पर पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि के रूप में विराजती है और उससे वियुक्त होने पर अपने गुणों के अनुसार उपदेवता, ब्रह्मराक्षस, भूत-प्रेत आदि का रूप धारण करती है। शेषोक्त रूप सूक्ष्म होने के कारण पंचेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है। यह पागलों का सिद्धान्त है कि जो कुछ इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। अतएव सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को नकारना भी पागलपन है।

महात्मा ईश्वरकृष्ण ने इसकी बड़ी सुन्दर मीमांसा की है। वे लिखते हैं –

अतिदूरात् सामिप्यादिन्द्रिय घातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्यात् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥[२]
सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।

– जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अति दूर होने पर, अति निकट होने पर, इन्द्रियों के विकल होने पर, मनःसंयोग न रहने पर, वायु के समान सूक्ष्म होने पर, अन्य द्रव्य का व्यवधान होने पर, सूर्य के आलोक में ग्रह-नक्षत्र आदि के समान अन्य वस्तु द्वारा अभिभूत होने पर, जल में जल के मिश्रण जैसे एकाकारता प्राप्त होने पर अथवा केवल अतिसूक्ष्म योगबुद्धि के गोचर होने पर सामान्य मनुष्य विद्यमान वस्तु की भी पंचेन्द्रियों द्वारा उपलब्धि नहीं कर सकता, उसकी असत्ता के कारण नहीं, क्योंकि कार्य द्वारा उनकी सत्ता बोध होता है।

सूक्ष्म शरीर सत्त्वप्रधान हो तो देव-शरीर में, रजःप्रधान हो तो उपदेव आदि के शरीर में और तमःप्रधान हो तो ब्रह्मराक्षस, भूत-प्रेतादि के शरीर में परिणत होता है। सूक्ष्म शरीरी जीव स्थूल शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। इसलिये सात्त्विक लोगों में देवताओं का, राजसिक लोगों में उपदेवता का तथा तामसिक लोगो मे भूत-प्रेतादि का आवेश होना सम्भव है।

उपरोक्त घटना के बाद भी यादवप्रकाश पूर्ववत् ही अध्यापन करते रहे। प्रतिदिन रामानुज आदि शिष्य उन्हें घेरकर बैठते और उनके मुख से शास्त्रों के सूक्ष्म अर्थ सुनकर आनन्द प्राप्त करते। एक बार **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**[३] तथा **नेह नानास्ति किंचन**[४] मंत्रो की व्याख्या करते समय यादव ने बड़े सुन्दर ढंग से अति प्रांजल भाषा में आत्मा और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन किया। उनकी व्याख्या-कुशलता पर रामानुज को छोड़ सभी शिष्य मुग्ध हो गए। पाठ समाप्त हो जाने के बाद रामानुज ने मंत्रों के विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया –

सर्वं खल्विदं ब्रह्म का अर्थ 'सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है' तब होता, यदि उसके बाद का 'तज्जलान्' उस अर्थ को विशेषित न करता। यह जगत् ब्रह्म द्वारा उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म द्वारा जीवित है और उसी में लय हो जाता है, अतः इसे निश्चय ही ब्रह्ममय कहा जा सकता है। मछली जल से उत्पन्न होती है, जल द्वारा ही जीवन धारण करती है और जल में ही लय हो जाती है, अतः उसे निश्चय ही जलमय कहा जा सकता है। परन्तु जैसे मछली कभी जल नहीं हो सकती, वैसे ही जगत् भी कभी ब्रह्म नहीं हो सकता। **नेह नानास्ति किंचन** – इसका अर्थ – जगत् में एक के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है – ऐसा नहीं है, बल्कि "इस संसार में वस्तुएँ अलग अलग नहीं हैं, जैसे विभिन्न मनके एक सूत्र में आबद्ध होकर माला के रूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न वस्तुएँ एक ब्रह्मसूत्र में आबद्ध होकर एक जगत् के रूप में परिणत हो गई हैं। अनेक संयुक्त होकर एक हो गया है, पर इससे बहुत्व को कोई हानि नहीं पहुँचती।"

यह व्याख्या सुनकर यादव अत्यन्त नाराजगी व्यक्त करते हुए रामानुज से बोले, "यदि मेरी व्याख्या रुचिकर न लगती हो, तो अब से मेरे पास मत आना।" रामानुज ने 'जो आज्ञा' कहकर सविनय गुरु के चरणों में प्रणाम किया और उसी दिन से यादव के घर आना बन्द कर दिया।

७. श्री कांचीपूर्ण

अगले दिन श्री रामानुज अपने घर में बैठे शास्त्र-अध्ययन कर रहे थे। उसी समय श्री कांचीपूर्ण वहाँ आ पहुँचे। ईश्वर के दास्यभाव की प्रतिमूर्ति श्री कांचीपूर्ण का आनन्दपूर्ण मुखमण्डल देखकर रामानुज के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने उठकर उन्हें बैठने को आसन प्रदान करते हुए कहा, "मेरे भाग्य से ही आज आपका आगमन हुआ है। करुणामय वरदराज का मुझ पर अपार स्नेह है, तभी तो उन्होंने इस अज्ञ बालक को भयंकर संसार अरण्य में असहाय विचरण करते देख आपको पथ-प्रदर्शक के रूप में भेज दिया है। आपने सुना होगा कि विद्वद्वर यादवप्रकाश ने मुझे अपने चरणों की छाया से वंचित कर दिया है, परन्तु ऐसा इसलिए हुआ है ताकि मुझे आपके समान महान् चन्दन वृक्ष की सुशीतल छाया प्राप्त हो सके, यह बात अब मैं स्पष्ट रूप से समझ पा रहा हूँ। आप मेरे गुरु हैं, कृपा करके मुझे अपने शिष्यरूप में स्वीकार कीजिये।"

यह सुनकर श्री कांचीपूर्ण बोले, "वत्स रामानुज, मैं शूद्र तथा अज्ञानी हूँ और तुम सद्ब्राह्मण तथा महापण्डित हो।

---

२. सांख्यकारिका, ७-८
३. छान्दोग्य उपनिषद्, ३/१४/१
४. कठोपनिषद्, ४/११

अत: तुम्हारा ऐसा कहना उचित नहीं । मैं वयोवृद्ध हूँ, पर तुम ज्ञानवृद्ध हो । शास्त्र आदि में मेरी वैसी गति नहीं है, इसीलिये मैं श्री वरदराज की दासता करते हुए जीवन बिता रहा हूँ । मैं तुम्हारा दास हूँ, तुम्हीं मेरे गुरु हो ।''

इस पर रामानुज बोले, ''महाशय, आप ही यथार्थ पण्डित हैं । शास्त्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं और उनकी सेवा ही परम पुरुषार्थ है । शास्त्रज्ञान यदि भगवद्भक्ति उत्पन्न न कर, केवल पाण्डित्य का अभिमान ही बढ़ाए, तो फिर वह मिथ्या-ज्ञान है, बल्कि अज्ञानी रह जाना ही उससे अच्छा है । आपने ही शास्त्रों का सच्चा सार ग्रहण किया है, बाकी पण्डितगण तो चन्दन ढोनेवाले गधे के समान ज्ञान का वहन मात्र कर रहे हैं । मैं सर्व प्रकार से आपके पादपद्मों का आश्रय लेता हूँ, आप मेरा परित्याग मत कीजियेगा ।'' इतना कहने के बाद रामानुज सहसा उनके चरणों में पड़ गये और दीन भाव से रुदन करने लगे ।

श्री कांचीपूर्ण ने तत्काल ही उन्हें भूमि से ऊपर उठाया और स्नेहपूर्वक उनका आलिंगन करते हुए बोले, ''वत्स, तुम्हारी भगवद्भक्ति देखकर आज मैं कृतार्थ हुआ । आज से तुम प्रतिदिन शालकूप से एक कलश पवित्र जल श्री वरदराज की अर्चना के लिये स्वयं लेकर आना । हस्तिगिरिपति शीघ्र ही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे ।''

रामानुज ने कहा, ''आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है ।'' और वे घर के भीतर से एक नया कलश लेकर शालकूप की ओर चले । कांचीपूर्ण ने भी श्री वरदराज के सेवार्थ उनके श्री मन्दिर की ओर प्रस्थान किया ।

श्री कांचीपूर्ण कौन थे? पूनामलै में उनका जन्म हुआ था । उन्होंने बाल्यकाल से ही स्वयं को श्री वरदराज की सेवा में लगा दिया था । उन्हें सर्वदा यही चिन्ता रहती थी कि वे कैसे वरदराज को सुख पहुँचा सकें । ग्रीष्मकाल में वे सदा शीतल जल से सिक्त पंखा लिये अपने परमप्रिय प्रभु को मन्द मन्द व्यजन करते रहते थे । वे विशेष ख्याल रखते थे कि कहाँ पर उत्तम फूल खिल रहे हैं, कहाँ मधुर फल पक रहे हैं और यथासमय उचित मूल्य देकर या भिक्षा में माँगकर उन्हें अपने प्राणाधीश के लिये ले आते । सामान्य लोग तो उन्हें मनुष्य ही नहीं मानते थे, कहते कि ये श्री वरदराज के नित्यदास हैं, वैकुण्ठ से आये हैं ।

कांचीपुर-वासियों का उन पर अतिशय स्नेह तथा भक्ति का भाव था । उनका स्वभाव बालक के समान था । अभिमान किसे कहते हैं, इसका उन्हें पता ही न था । उनके मुखमण्डल पर सदा हास्य की रेखा दीख पड़ती थी । जो भी उन्हें देखता, उसके हृदय में दु:ख की छाया के स्थान पर प्रफुल्लता की दीप्ति फैल जाती । मनोमालिन्य, हृदय-सन्ताप, दु:ख, द्वेष, दारिद्र्य आदि उन्हें देखते ही अन्तर्हित हो जाते । जैसे वसन्त ऋतु जहाँ भी प्रकट होता है, वहीं मधुवर्षण करता है, वैसे ही श्री कांचीपूर्ण भी जहाँ कहीं जाते, वहीं स्वर्गीय सुख-शान्ति का वातावरण फैल जाता । सभी लोग उन्हें अपना परम आत्मीय समझते, परन्तु कोई भी उन्हें सामान्य मनुष्यों की श्रेणी का नहीं सोचता, क्योंकि अधिकांश समय उनके स्वभाव में अलौकिकता की झलक दिखाई दे जाती थी । कोई अदृश्य पुरुष निरन्तर उनके साथ रहा करते थे । लोगों के साथ वार्तालाप करते समय भी वे बीच बीच में सब कुछ भूलकर उन्हीं पुरुष की बातें सुनते, सुनकर कभी हँसते और कभी न जाने क्या क्या कहने लगते । देखकर सभी विस्मित रह जाते । परन्तु कोई भी उन्हें उन्मादी नहीं कहता, क्योंकि उनका मुखमण्डल एक ऐसे माधुर्य एवं गाम्भीर्य से परिपूर्ण था कि उन्हें देखकर कठोर-से-कठोर व्यक्ति भी द्रवित हो जाता ।

उनके साथ रहनेवाले वे अदृश्य पुरुष कौन थे? सभी एक स्वर में कहते, ''साक्षात् श्री वरदराज! वे श्री हस्तिगिरिपति के साथ वार्तालाप करते हैं, वे श्रीहरि के मुख-स्वरूप हैं, उन्हीं के द्वारा प्रभु अपना मनोभाव व्यक्त करते हैं ।'' सबका यही मत था, तथापि वे शूद्र कहकर अपना परिचय देते थे और ब्राह्मणगण के प्रति विशेष श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करते थे । अधिकांश ब्राह्मण भी उनका विशेष आदर-यत्न करते थे और शूद्र मानकर घृणा नहीं करते थे । केवल कुछ शास्त्र-व्यवसायी अहंकारी पण्डित ही उन्हें उन्मादी या पाखण्डी मानकर निश्चिन्त थे । यादवप्रकाश भी उन्हीं में से एक थे । ❖ (क्रमश:) ❖

(पृष्ट ४५२ का शेषांश)

मानवीय मूल्यों की उपासना करें । कला का केन्द्रबिन्दु मानव हो । उसका उद्देश्य विज्ञापन नहीं, मानवता की अवतारणा हो । राजनीति में नीति की अपेक्षा, धर्म में सत्याचरण पर बल, विज्ञान का ध्येय मानव-सेवा, साहित्य का प्रयोजन यदि शिव रहे, तो इस सकट से मुक्ति पाया जा सकेगा । भोगोन्मुखी परजीवी सस्कृति की विषकन्या के प्रति आसक्ति के खतरनाक परिणाम हिप्पीवाद के रूप में हमारे सामने हैं । जीवन में नकारे गये मूल्यों, परम्पराओं, प्रतिमानों, सामाजिक विधियों, नियमों और अस्तित्ववादी विचारों की अस्वीकृति, निषेधों तथा वर्जनाओं से विहीन जीने की ललक और फैशन-परेडें हिप्पीवाद की ही फैन्सी-ड्रेसें हैं । डिस्को और पॉप सगीत, विकृत नृत्य, अश्लील चित्र और रात्रिकालीन मनोरंजन-गृह आदि इसी परजीवी संस्कृति के 'मेकअप' से भरे चेहरे हैं, जिनकी ओर हम आकर्षित हैं; मोह की निद्रा में सुप्त हैं । हम उठें, जागें और अपने कल्याण तथा कर्तव्य को समझें । ❑

जीना सीखो (१०)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने युवकों को जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लाकप्रिय हुई । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

अध्याय २

तुम्हारे भीतर अनन्त शक्ति छिपी है

आत्मा की अनन्त शक्ति पदार्थ पर कार्य करे, तो भौतिक विकास होता है; चिन्तन पर कार्य करे, तो बौद्धिक विकास होता है और जीवात्मा पर कार्य करे, तो मनुष्य देवता बन जाता है ।

— स्वामी विवेकानन्द

प्रत्येक अणु में अनन्त शक्ति है

जानते हो, यदि किसी पदार्थ की केवल एक ग्राम मात्रा को ऊर्जा में रूपान्तरित किया जाय, तो उससे कितनी ऊर्जा प्रकट होगी? – ३.०३ करोड़ अश्वशक्ति या २.२६ करोड़ वाट!

२०वीं शताब्दी के महान् वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने पदार्थ एवं उसमें निहित शक्ति के गणन का सूत्र खोज निकाला – $E=mc^2$ । यहाँ 'M' पदार्थ का भार, 'C' प्रकाश की गति और 'E' उसमें निहित ऊर्जा की मात्रा का द्योतक है । पदार्थ में अकल्पनीय शक्ति विद्यमान है । वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखकर हम उनमें निहित विराट् ऊर्जा का अनुमान नहीं कर सकते ।

आइंस्टीन का सूत्र हमें पदार्थ के सच्चे स्वरूप का निश्चित ज्ञान देता है और भौतिक जगत् की एकता पर प्रकाश डालता है । वैज्ञनिकों ने पदार्थ को ऊर्जा और ऊर्जा को पदार्थ में रूपान्तरित करने की विधि खोज ली है । यह सूत्र पदार्थ तथा ऊर्जा को अविनाशी बताता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह आधुनिक युग के मूलभूत अविष्कारों में से एक है ।

सचमुच ही वैज्ञानिकों ने हमारे इन्द्रिय-ग्राह्य भौतिक जगत् के असंख्य रहस्यों का अनावरण किया है । जिस विलक्षण यन्त्र ने ये अविष्कार किये, उसे 'मानव-मन' कहते है । क्या वैज्ञानिकों ने इस 'मन' का रहस्य भी जान लिया है? क्या वे इसकी गहराई तक पैठ सके हैं? असंख्य वस्तुओं के विषय में मनुष्य के असीमित ज्ञान का स्रोत क्या है? यह सारा ज्ञान उसे अनुमान तथा विचार, निरीक्षण तथा प्रयोग और विश्लेषण तथा चर्चा से प्राप्त हुआ है । दूसरे शब्दों में यह ज्ञान 'मन' रूप यंत्र से प्राप्त हुआ है । क्या यह मानवीय मन की विशाल अनन्त शक्ति को सिद्ध नहीं करता?

समुद्र समाना बूँद में

ब्रह्माण्ड की विशालता के समक्ष मनुष्य मानो धूल के एक कण के समान है । यदि हम अन्तरिक्ष में फैले ग्रह-नक्षत्र-मण्डल को देखें, तो लगता है कि पूरी मानव-जाति समुद्र की एक बूँद मात्र है, परन्तु विज्ञान ने दिखाया है कि इस बूँद में भी एक अनन्त महासागर छिपा है । मानव-शरीर की संरचना, इसके विभिन्न अंगों का संचालन तथा इसकी प्रत्येक कोशिका की जटिल क्रियाओं के सूक्ष्म विवरण हमें स्तब्ध कर देते हैं । यह कितने आश्चर्य की बात है कि हमारे रक्त की हर बूँद में ५० लाख लोहितकण, १० हजार श्वेतकण और ५ लाख चपटे कण विद्यमान होते हैं! जैसे विराट् ब्रह्माण्ड विस्मयजनक है, वैसे ही शरीर के अन्दर का सूक्ष्म कोशिकाओं का जगत् भी कम अद्भुत तथा रहस्यमय नहीं है । और क्या हम ऐसा नहीं कह सकते हैं कि इस आश्चर्य को समझनेवाला 'मानव-मन' तो उनसे भी अधिक विलक्षण है?

डा. एलेक्सिस कैरेल का कहना है कि मानव-मन कल्पना के द्वारा अति सूक्ष्म इलेक्ट्रॉनों तथा सुदूर अन्तरिक्ष में स्थिर तारों को एक साथ समझ सकता है । प्रसिद्ध गणितज्ञ तथा दार्शनिक पॉस्कल ने कहा है, "आकाश में विश्व मुझे घेरकर एक बिन्दु बना देता है; परन्तु चिन्तन से मैं विश्व को समझ लेता हूँ।" ये सभी बातें मन की विलक्षण शक्ति की द्योतक हैं।

एक बात निश्चित है कि जीवन तथा अस्तित्व के अर्थ निर्धारित करने और मानव-जीवन के लक्ष्य तथा महत्व को समझने के लिए ग्रहों या तारामण्डल के रहस्य जानना पर्याप्त नहीं है; इसके लिए मानव-मन की गहराइयों में निहित तत्त्व के स्वरूप तथा स्वभाव का सूक्ष्म ज्ञान अर्जित करना होगा और उसकी क्रियाओं के विधान को समझना होगा ।

रहस्य की चाभी

एक बार देवताओं में चर्चा हो रही थी कि मनुष्य की हर मनोकामना को पूर्ण करनेवाली चमत्कारी गुप्त शक्ति को कहाँ छिपाकर रखा जाय । एक देवता ने कहा इसे समुद्र की गहराइयों में रख दिया जाय । दूसरे ने इसे पर्वत शिखर पर छिपाने का परामर्श दिया । तीसरे ने कहा कि वन की गुफा इसके लिए उपयुक्त रहेगी । एक प्रमुख तथा बुद्धिमान देवता ने सलाह देते हुए कहा, "क्यों न हम इसे मानव-मन की गहराइयों में ही छिपा दें । उसे कभी सन्देह नहीं होगा कि ऐसी शक्ति वहाँ छिपी हुई है, क्योंकि बचपन से ही उसका मन इधर-उधर दौड़ता रहता है । वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकेगा कि ऐसी विलक्षण शक्ति उसके भीतर छिपी हो सकती है और वह इसे बाह्य जगत् में खोजता रहेगा । अत: इस

बहुमूल्य शक्ति को हम उसके मन की निचली तहों में छिपा देंगे।" सभी देवता इस प्रस्ताव पर सहमत हो गये। इसीलिए कहा जाता है कि मानव-मन में अद्भुत शक्तियाँ निहित हैं। इस कथा का मर्म यह है कि मानव-मन असीम ऊर्जा का कोष है। मनुष्य जो भी चाहे, पा सकता है। उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। किन्तु हाय! उसे स्वयं ही विश्वास नहीं होता कि उसके भीतर इतनी शक्ति विद्यमान है। उसने अपने विषय में एक ऐसी हीन-भावना विकसित कर ली है कि वह इससे मुक्त नहीं हो सकता। मानो वह अपनी ही हथेलियों से आँखों को ढँककर अन्धकार होने की शिकायत करता रहता है।

उसकी इस अवस्था का क्या कारण है? अज्ञान। आइंस्टीन द्वारा आविष्कार के पूर्व पदार्थ के हर कण में निहित विराट् शक्ति छिपी क्यो थी? अज्ञान के ही कारण। हजारों वर्षों तक लोगों की धारणा थी कि यह पृथ्वी चपटी है। क्यों? अज्ञान के कारण ही तो लोग जो कुछ भी प्रत्यक्ष दिखता था, उसी को सत्य मान लेते थे?

प्राचीन भारत के ऋषियों तथा दुनिया के कुछ दार्शनिकों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप का सूत्र खोज लिया था। यह अध्याय पूरा होने तक तुम समझ जाओगे कि आधुनिक अनुसन्धानों ने प्राचीन ऋषियों द्वारा खोजे हुए सूत्रों को अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित कर दिया है। यह सूत्र हमारे व्यक्तित्व के रहस्यमय पहलुओं को उजागर करता है और जीवन के तात्पर्य तथा उद्देश्य को समझने में सहायक होता है।

बाह्य जगत्

पिछले ३०० वर्षों के दौरान हुई आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उन्नति प्रकृति तथा बाह्य जगत् से सम्बन्धित है। मानव-मन की संरचना तथा सम्भावनाओं का अध्ययन काफी बाद – केवल १०० वर्ष पूर्व ही आरम्भ हुआ है। यह सत्य है कि सूक्ष्मदर्शी तथा दूरदर्शी यंत्रों के द्वारा वैज्ञानिक ने बाह्य जगत् के असंख्य विवरण जान लिए हैं। किन्तु अनेक वैज्ञानिक भले ही देर से, यह अनुभव कर रहे हैं कि मन की निरन्तर बहिर्मुखी गति के कारण मन के भीतरी स्वरूप के अनेक पहलुओं का ज्ञान नहीं हो पाता और उन्हें केवल ध्यान के अभ्यास द्वारा ही जाना जा सकता है।

वैज्ञानिकों ने अनेक प्राकृतिक नियमों की खोज के द्वारा प्रकृति के रहस्यों को खोलकर हमें सुख-सुविधा के अनेक साधन प्रदान किये हैं। हमें मानना ही पड़ेगा कि मानव की गवेषणा-शक्ति तथा बौद्धिक-क्षमता पिछले किसी भी काल की अपेक्षा काफी ऊँचाई तक जा पहुँची है, परन्तु सच्चाई, न्याय, भाईचारा, आपसी सद्भाव, सहयोग, शान्ति तथा सहनशीलता से परिपूर्ण सुन्दर जगत् की रचना क्या उसके हाथ में नहीं है? वह ऐसे जगत् का निर्माण क्यों नहीं कर सका?

मानव के वर्तमान कष्ट को एक कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है –

मानव मानव से डरता है
सर्वत्र फैला है आशंका का साम्राज्य
शान्ति के परदे के पीछे चलता है क्रान्ति का षड्यंत्र।
देशभक्ति के लबादे में छिपी है ऐसी नीचता
और बहशीपना, जैसा अब तक सुनने में नहीं आया;
जीवन को कुचलते हुए चलते भारी-भरकम राष्ट्र
और पश्चिमी क्षितिज पर काफी ऊँचाई तक उठतीं
रक्तिम ज्वालाओं का तो कहना ही क्या!
खुलकर चलती हुई गोलियाँ –
युद्धोन्माद का आनन्द फैला हुआ है।

वैज्ञानिकों ने पंच महाभूतों को वश में कर लिया, वे जल-थल तथा नभ में अति तीव्र गति से जा सकते हैं और मानव-जाति को आतंकित करनेवाली महामारियों को भगा सकते हैं। परन्तु क्या वे क्षय तथा मृत्यु के अधीन, वर्तमान में जी तथा फल-फूल रहे लोगों के बीच भाई-चारे तथा मित्रता के भाव नहीं भर सकते? क्या वे प्रेम के अमृत से घृणा की आदिम आग को बुझा नहीं सकते?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है – प्रगति दो क्षेत्रों में होनी चाहिए और ये प्रकृति के दो पहलुओं से जुड़ी हैं।

एक है भौतिक प्रकृति या बाह्य जगत् और दूसरा है मानव का आन्तरिक स्वरूप। एक तो हमारे दृश्यमान जगत् से सम्बन्धित है और दूसरा मानव की अन्तरात्मा से जुड़ा है, जिसके द्वारा वह बाह्य जगत् को देखता और परखता है।

यदि मनुष्य अपने चारों ओर के जगत् या पर्यावरण से मुक्त होने के लिए अपनी शक्ति बढ़ा पाता है, यदि वह अपनी स्वाधीनता बढ़ाता है, यदि वह प्रकृति पर नियंत्रण कर लेता है; तो विकास रूप यह परिवर्तन प्रगति कहा जा सकता है। वैज्ञानिकों के असंख्य अविष्कारों ने बाह्य प्रकृति पर नियंत्रण पाने में हमारी सहायता की है। नि:सन्देह हम बाह्य विकास तथा प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। परन्तु क्या मन के क्षेत्र में भी उसी के अनुरूप विकास हो रहा है?

अन्तर की गहराई में

मन, बुद्धि, अहं तथा आत्मा मिलकर व्यक्ति का आन्तरिक पर्यावरण बनाते हैं और वस्तुत: यही उसके समस्त क्रिया-कलापों का मूल है। अब उसके आन्तरिक पर्यावरण की क्या अवस्था है? क्या उसके आन्तरिक परिवेश से प्रदूषण घट रहा है? दूसरे शब्दों में, क्या हम इस आन्तरिक परिवेश पर नियंत्रण कर पा रहे हैं? इस नियंत्रण को प्राप्त करने के क्या कोई सिद्धान्त भी हैं? यदि हैं, तो वे क्या हैं? जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा ईर्ष्या रूप छह कुख्यात तरंगें

मानव-मन के तटों पर आघात करती हुई उसमें उदण्डता, स्वार्थ, लोभ तथा अनाचार उत्पन्न करती हैं, तब बाह्य जगत् में हम तकनीकी रूप से चाहे जितने भी उन्नत क्यों न हो, पर उनसे उत्पन्न हिंसा तथा कष्ट को कम करना क्या सम्भव है? कोई व्यक्ति चाहे कितना ही धनवान क्यों न हो; भले ही उसे सर्वोच्च प्रकार के सारे साधन – घर, गाड़ी, नौकर, फर्नीचर आदि सारी सुविधाएँ क्यों न उपलब्ध हों; परन्तु यदि वह मानसिक रूप से सुखी न हो, तो यह उसके जीवन का कैसा विरोधाभास है? बाह्य जगत् की ये सारी सुख-सुविधाएँ क्या उसके लिए निरर्थक नहीं हैं? प्रसिद्ध बेल्जियन लेखक तथा नोबल पुरस्कार विजेता मॉरिस मेटरलिंक ने अपने ग्रंथ 'उस पार की महानता' की भूमिका में लिखा है, "महानतम अभियन्ता, गणितज्ञ, चिकित्सक या आन्तरिक्ष-वैज्ञानिक एक शोषक या एक भावहीन मूर्ख हो सकता है। कभी कभी लोग इस ओर ध्यान नहीं देते या भूल जाते हैं।" मैंने कहीं पढ़ा था कि अत्यधिक ज्ञान, निपुणता तथा शक्ति यदि पवित्रता से रहित हो, तो मानव को दानव बना देती है। क्या केवल ज्ञानार्जन या निपुणता की उपलब्धि करके ही कोई व्यक्ति अच्छा बन जाता है? इतिहासकार बताते है कि व्यक्ति के मन के प्रदूषण के विनाशकारी प्रभाव से मानव-समाज का पतन होता रहता है। प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नाल्ड टॉयन्बी के अनुसार पृथ्वी की पिछली २१ सभ्यताओं में से १९ का विनाश बाह्य आक्रमणों से नहीं, वरन् मानव के नैतिक मूल्यों के पतन से हुआ।

यदि प्रगति केवल बाह्य जगत् के आविष्कारों तक ही सीमित है, तो यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य के मन में भी प्रगति होगी। आन्तरिक प्रगति के सिद्धान्त को समझने के लिए हमें मन के आन्तरिक स्वरूप तथा स्वभाव को जानना होगा। हमें प्रत्येक मनुष्य के मन:सागर में छिपे बहुमूल्य रत्नों की जानकारी होनी चाहिए। हमें मानव-जीवन की सारी प्रगति तथा कल्याण के मूल में निहित सर्वव्यापी सिद्धान्तों को जानना तथा समझना चाहिए। हमें सत्य पर आधारित उस सिद्धान्त की खोज करनी होगी, जो हमें अपने स्वयं के मार्गदर्शन की भी क्षमता दे सके। क्या मानव-जीवन का इन्द्रियोचित जगत् से सम्बद्ध खाने, पीने, नाचने और सन्तानोत्पति के अतिरिक्त भी कोई उद्देश्य है? यदि कोई उद्देश्य हैं, तो वह क्या है? मानव-जीवन का क्या तात्पर्य है? ऐसे प्रश्नों के सही उत्तर न मिलने तक हम एक पूर्ण जीवन-दर्शन से वंचित रह जाते हैं। एलेक्सिस कैरेल कहते हैं, "यान्त्रिक अविष्कारों में वृद्धि से कोई लाभ नहीं; बल्कि शायद भौतिकी, खगोल तथा रसायन-शास्त्रों के अविष्कारों को इतना महत्व न देना ही ज्यादा उचित होगा। वस्तुत: शुद्ध विज्ञान हमें सीधे सीधे कोई हानि नहीं पहुँचाता, पर संकट तब आता है, जब इसका मोहक सौन्दर्य हमारे मन पर अधिकार जमाकर उसे जड़ पदार्थों से सम्बन्धित भावों का दास बना देता है। मनुष्य को अब स्वयं अपनी तरफ और अपनी नैतिक तथा बौद्धिक अयोग्यता के कारण की ओर ध्यान देना होगा। यदि हमारी निर्बलताएँ हमें सभ्यता का पूरा लाभ न उठाने दें, तो फिर उसमें सुख, सुविधा, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, आकार तथा जटिलता बढ़ाने से क्या लाभ? महान् राष्ट्रों के उत्कृष्ट गुणों को अधोमुखी तथा नष्ट करनेवाली जीवन-शैली की चर्चा करने से कोई लाभ नहीं होगा। उत्तरोत्तर और भी द्रुतगामी जलपोतों, आरामदायक कारों, सस्ते रेडियों या दूर के सितारों का निरीक्षण करनेवाली दुरबीनों के निर्माण की अपेक्षा हमारा स्वयं पर अधिक ध्यान देना कहीं अधिक अच्छा होगा। विमानों द्वारा कुछ ही घण्टों में हमें यूरोप या चीन पहुँचा देने से सभ्यता की कौन-सी सच्ची प्रगति हुई? क्या उत्पादन को अविराम बढ़ाते जाना आवश्यक है, ताकि लोग बेकार की चीजों का अधिकाधिक मात्रा में उपभोग करें? नि:सन्देह यांत्रिकी, भौतिकी तथा रसायन-शास्त्र हमें बुद्धि, नैतिक अनुशासन, स्वास्थ्य, स्नायविक-सन्तुलन, सुरक्षा व शान्ति देने में अक्षम हैं।" उद्योग तथा तकनीकी के क्षेत्र में ऊँची उड़ाने भरनेवाले देश तेजी से आध्यात्मिक सर्वनाश की ओर बढ़ रहे हैं। एलेक्सिस कैरेल जोर देकर कहते हैं, "सभ्यता का लक्ष्य विज्ञान तथा यन्त्रों की नहीं, बल्कि मानव की प्रगति है।" डॉ. कैरेल ने मानव-चेतना की गहराइयों के अध्ययन के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा है कि गैलीलियो, न्यूटन, लवोसियर जैसे लोग यदि मनुष्य के तन, मन तथा चेतना के अध्ययन पर ध्यान देते, तो दुनियाँ आज बिल्कुल भिन्न होती। आइंसटीन ने भी दूसरे शब्दों में यही मत व्यक्त किया, "सांसारिक विषयों का ज्ञान जीवन के कुछ उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सशक्त साधन जुटा सकता है, पर जीवन का चरम लक्ष्य तथा उसे पाने की इच्छा किसी अन्य स्रोत से ही आती है।" जीवन के लक्ष्य के विषय में आधुनिक दार्शनिक भी हजारों वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों तथा यूनानी विचारकों द्वारा कथित विचारों को ही प्रतिध्वनित करते हुए कहते हैं – 'स्वयं को जानो'।

इन्हें पढ़ो -

मनोरोग को एक ऐसे मनुष्य पीड़ा समझनी चाहिए, जिसे अपने जीवन के तात्पर्य का बोध नहीं हुआ है।

– सी. जी. युंग

बीसवीं सदी का मनोरोग लक्ष्यहीनता, अर्थहीनता, मूल्य-हीनता, खोखलेपन तथा शून्यता का फल है।

– टी. एम. थॉमस

कन्नड़ के सुप्रसिद्ध कवि डी. आर. बेन्द्रे ने अपनी एक कविता में इसे ऐसे मानव की उलझन बतायी है, जिसे उसके सच्चे स्वरूप या जीवन के लक्ष्य का बोध नहीं हो सका है –

परायेपन के भय ने हृदय को चीर डाला है,
जीवन मृत्यु के जाल में फँसा हुआ है ।
बुद्धि बाह्य जगत् में भटक रही है,
हे माँ, अपने इस दास की रक्षा करो ।।

अन्तर्दृष्टि के द्वारा मन की गहराई में छिपे सत्य का बोध प्राप्त किया जा सकता है या फिर हममें सत्योपलब्धि के लिए तीव्र आकांक्षा होनी चाहिए । जिन लोगों ने अपने जीवन में सत्य को प्राप्त किया है, हमें उनकी बातों पर विश्वास करके निष्ठापूर्वक उनके बताए मार्ग पर चलना चाहिए । दूसरी ओर यदि हम भौतिक सुखों को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानें, तो हमारा जीवन शून्य तथा निरर्थक हो जाएगा । 'शताब्दी की संध्या' शीर्षक अपनी कविता में कवि पुटप्पा ने यही कहा है । इसमें वैज्ञानिक अविष्कारों के महत्व को स्वीकार करते हुए भी मानव-जीवन् के लक्ष्य को समझने पर बल दिया गया है –

मक्खियों की मूँछों और
कीड़ों के पदचिह्नों का
उसे पूरा ज्ञान है ।
अपनी आत्मा को जानने का
लम्बा संघर्ष क्या उसका लक्ष्य नहीं?
खोज व अनुसन्धान में
विश्राम का समय कहाँ है?
पढ़ो, पढ़ो और पढ़ो
पर ज्ञान कोरा है!

बड़े आश्चर्य की बात है कि आज विज्ञान स्वयं ही मन के स्वरूप को समझने में हमारी सहायता कर रहा है । अनेक वैज्ञानिक अपने व्यक्तिगत अनुभवों, प्रयोगों तथा निरीक्षणों के आधार पर मानव-मन में छिपी असीम शक्ति के विषय में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त कर रहे हैं ।

मन का संसार

जीवविज्ञान के क्षेत्र में अपने अनुसन्धानों पर नोबल पुरस्कार पानेवाले सुविख्यात वैज्ञानिक डॉ. एलेक्सिस कैरेल ने अपने ग्रन्थ 'Man, the Unknown' (अज्ञात मनुष्य) में अपनी उत्कृष्ट बुद्धि का प्रमाण दिया है, वे कहते हैं, "शरीर-वैज्ञानिकों तथा अर्थशास्त्रियों द्वारा पूर्णत: तिरस्कृत और चिकित्सकों द्वारा प्राय: अलक्षित यह मन सजीव पदार्थ में छिपा रहता है । और इसके बावजूद यह विश्व की महानतम शक्ति है ।" स्माइली ब्लैंटन नामक अमेरीकी मनोवैज्ञानिक का भी यही कहना है, "मन के गहन परतों में अकल्पनीय शक्ति तथा साहस के स्रोत विद्यमान हैं । हर मनुष्य अपनी पूरी क्षमता के साथ इन स्तरों में पहुँचे । सौभाग्यवश, हममें से प्रत्येक के भीतर अनन्त संसाधन हैं; हमें तो बस उन्हें ढूँढ़ना तथा उपयोग में लाना है ।"

बर्नार्ड बी. केजिन्स्की तथा डॉ. पॉवेल न्युमोव नामक सुप्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिकों के भी ये ही विचार हैं, "मन कोई जड़ पदार्थ नहीं है । जैसे समुद्रतल में बहुमूल्य रत्न होते हैं, वैसे ही हमारे मन की गहराई में अक्षय शक्ति का भण्डार है । परन्तु यह शक्ति हमारी साधारण इन्द्रियों को गोचर नहीं हैं ।"

वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों में से एक सी. जी. युंग के मतानुसार, "मन का एक अंश देश-काल के परे और हमसे अज्ञात है और जो अंश देश-काल के परे है, वह कारण के भी अतीत है ।"

अमेरीका के ड्यूक विश्वविद्यालय के डॉ. जे. बी. राइन मानव-मन की विलक्षण शक्तियों पर विस्तार से अध्ययन तथा प्रयोग करते रहे, उन्होंने लगभग आधी सदी पूर्व कहा था –

"यह निष्कर्ष दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जाता है कि मन के भीतर ऐसी शक्तियाँ विद्यमान है, जो हमारे द्वारा ज्ञात भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में नहीं आतीं । चूँकि देश तथा काल भौतिक पदार्थों के सुनिश्चित लक्षण हैं, अत: मन का स्वरूप भौतिक के परे या आध्यात्मिक होना चाहिए ।" Dr. J.B.Rhine, Scientific evidence Man has a soul, American Weekly Magazine, August 25, 1946

क्या ये सारे कथन सबमें अन्तर्निहित एक ऐसी शक्ति की ओर इंगित नहीं करते, जो रोग तथा मृत्यु के अतीत है?

मनोवैज्ञानिक सी. जी. युंग का कहना है, "उदार प्रकृति मानव के ऊपर जो सारे प्रोत्साहन तथा सहायता बरसाती है, अचेतन मन हमें वह सब कुछ प्रदान करता है । ... इसमें वे सारी सम्भावनाएँ निहित हैं, जो चेतन मन से छिपी हुई हैं, क्योंकि इस (अचेतन) के पास सारी उत्कृष्ट मानसिक शक्तियाँ है; वह सब है जो कभी भुला या बिसरा दी गयी थीं; और साथ ही असंख्य शताब्दियों के ज्ञान तथा अनुभव भी इसके प्राचीन अंगों में बसे हुए हैं । ... अचेतन मन मनुष्य के लिए एक अपूर्व पथ-प्रदर्शक बन सकता है, बशर्ते वह कुमार्ग पर चलने के प्रलोभनों से बच सके ।" ❖ (क्रमशः) ❖
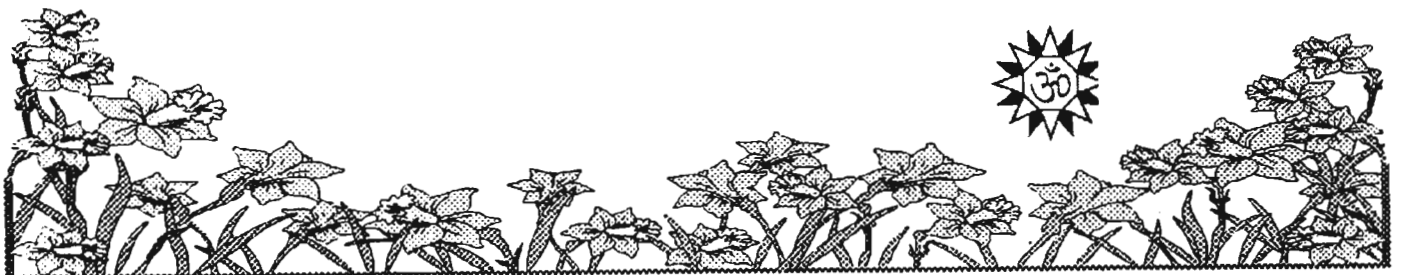
ईसप की नीति-कथाएँ (१०)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आवीर्भूत ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती। कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

सिंह और सियार

सिंह को जंगल का राजा कहा जाता। वन के सभी प्राणी उससे डरते हैं। सिंह जैसा बलवान होता है, उसकी गर्जना भी वैसी ही भयंकर होती है। इसे सुनकर बहुत से पशु तो भय से ही अचेत हो जाते हैं।

एक सियार एक ऐसे वन में रहता था, जहाँ कोई सिंह नहीं था। एक दिन वह भोजन की खोज में घूमते हुए पड़ोस के जंगल में जा पहुँचा। उस वन में पशुराज सिंह का निवास था। वन में घूमते हुए सियार को सिंह की गर्जना सुनाई दी। सुनते ही उसके हाथ-पाँव फूल गये और वह काँपते हुए धरती पर बैठ गया। भय के कारण उसे अपनी भूख-प्यास तक का विस्मरण हो गया। इसके बाद जब सिंह उसके सामने प्रकट हुआ, तो उसका विशाल शरीर तथा चेहरे के अयाल देखकर वह बेहोश हो गया।

इसके कुछ काल बाद एक दिन फिर उसी वन में भोजन की खोज करते समय सियार को पुन: सिंह का दर्शन मिला। इस बार भी उसे भय तो लगा, परन्तु वह बेहोश नहीं हुआ। उसने डरते डरते सिंह की ओर निगाह उठाकर देखा कि विशाल शरीर होने के बावजूद सिंह भी उसी के समान एक पशु मात्र है। अब उसका भय काफी कम हो गया और वह सिंह को देखकर भागा नहीं।

तीसरी बार जब सियार ने सिंह को देखा, तो वह थोड़ा-सा डरा जरूर, परन्तु सिंह के सामने अपने भय का प्रदर्शन न करते हुए साहसपूर्वक उसके सामने से होकर निकल गया। आखिरकार एक ऐसा दिन भी आया जब सियार सिंह को देखकर बिल्कुल ही नहीं डरता था, बल्कि उल्टे सिंह के पास निर्भयतापूर्वक जाकर पूछ लेता, "क्यों मित्र, कैसे हो?"

भय दूर से ही बड़ा दिखता है, परन्तु निकट आने पर क्रमश: कम होता जाता है। अत: नयी परिस्थितियों से भयभीत न होकर उन्हें समझने का प्रयास करना चाहिए।

मिट्टी और काँसे के बरतन

एक मिट्टी का घड़ा और एक काँसे का घड़ा नदी की धार में बहे जा रहे थे। काँसे के घड़े ने मिट्टी के घड़े से कहा, "ओ भाई, तुम मेरे निकट आ जाओ, तो फिर आपत्ति-विपत्ति में मैं तुम्हारी रक्षा कर सकूँगा।" मिट्टी का घड़ा बोला, "तुमने जो प्रस्ताव रखा है, उससे मैं परम आह्लादित हुआ हूँ, परन्तु जिस आशंका के कारण मैं तुमसे दूरी बनाए हुए हूँ, तुम्हारे पास जाने से वही हो जाएगा। तुम कृपा करके मुझसे दूर रहो, तो उसी में मेरा कल्याण है, क्योंकि हम दोनों के एक साथ हो जाने से मेरा ही सर्वनाश होगा। तुमसे टकरा जाने पर तो मैं टूट-फूट जाऊँगा।"

बलवान से दूरी बनाये रखने में ही बुद्धिमत्ता व सुरक्षा है।

गरुड़ और लोमड़ी

एक गरुड़ तथा एक लोमड़ी के बीच प्रगाढ़ मित्रता थी। गरुड़ एक ऊँचे वृक्ष की शाखा पर घोसला बनाकर रहता था और लोमड़ी उसी के नीचे एक बिल में निवास करती थी।

एक दिन लोमड़ी भोजन की खोज में बाहर गई हुई थी, उसी समय भूख से व्याकुल होकर गरुड़ भी अपने घोसले से बाहर निकला। उसने सोचा, "मैं तो इतने ऊँचे स्थान में रहता हूँ, अत: लोमड़ी मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगी। ऐसा सोच वह लोमड़ी का एक बच्चा उठाकर अपने घोसले में ले गया।

थोड़ी देर बाद लोमड़ी ने लौटकर देखा कि गरुड़ उसके एक बच्चे को उठाकर ले गया है। इस पर उसने गरुड़ को मित्रद्रोही कहकर उसे खूब खरी-खोटी सुनाई और फिर बड़े विनयपूर्वक अपना बच्चा लौटा देने को कहा। गरुड़ किसी भी हालत में उसे लौटाने को राजी नहीं हुआ।

गरुड़ का ऐसा दुराचरण देखकर लोमड़ी अत्यन्त क्रुद्ध हुई। उसने तत्काल बहुत-सी सूखी पत्तियाँ तथा टहनियाँ एकत्र कीं और उसे वृक्ष के चारों ओर सजाकर उसमें आग लगा दी। क्रमश: उस आग से लपटें तथा धुँआ निकलकर वृक्ष की काफी ऊँचाई तक पहुँचने लगा। गरुड़ अपने बच्चों के प्राणनाश की सम्भावना देखकर अत्यन्त भयभीत तथा परेशान हो गया। उसने तत्काल लोमड़ी का बच्चा लौटा दिया और विनयपूर्वक उससे कहने लगा, "मैं नासमझी में गलत कार्य कर बैठा। तुम मुझे क्षमा कर दो और दया करके इस आग को बुझा दो। मैं शपथ लेकर कहता हूँ कि फिर कभी ऐसा दुराचरण नहीं करूँगा।" गरुड़ की कातर प्रार्थना सुनकर लोमड़ी का हृदय पिघल गया और वह तत्काल अग्नि को बुझाने में व्यस्त हो गयी।

कहा भी है – **शठे शाठ्यं समाचरेत्** – दुष्ट के प्रति दुष्टता का आचरण करना ही उचित है। ❖ (क्रमश:) ❖

सफलता और कर्म

स्वामी सत्यरूपानन्द

संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो सफलता नहीं चाहता, जो यह नहीं चाहता कि उसकी आकाक्षाओं की पूर्ति न हो? किन्तु ससार का अनुभव हमें यह बताता है कि अधिकाश लोगों के जीवन में उनकी आकाक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाती। ऐसा क्यों होता है?

इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो व्यक्ति अपनी आकाक्षाओं की परीक्षा नहीं करता, उनका विश्लेषण नहीं करता, वह ठीक ठीक जानता नहीं कि वह अन्ततः चाहता क्या है। और दूसरा आकाक्षा-पूर्ति के उचित साधनों का चयन न कर तथाकथित शीघ्र फलदायी साधनों के फेर में पड़ जाता है। उतना ही नहीं, उन साधनों पर भी पूरा ध्यान नहीं देता। अध्यवसायपूर्वक परिश्रम नहीं करना चाहता। किसी भी व्यक्ति के जीवन की असफलता के, उसकी आकांक्षाओं के पूर्ण न होने के ये ही दो प्रमुख कारण होते हैं।

जीवन की सफलता के लिए सर्वप्रथम इन दोनों कारणों को जान लेना, उन्हें पहिचान लेना अत्यन्त आवश्यक है। उन्हें जानकर, पहिचान कर ही हम उनके निवारण का उपाय कर सकते हैं।

कारणों को जान लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है उनके निवारण का। उनके निवारण के भी दो प्रमुख उपाय हैं –

(१) अपनी आकांक्षाओं की परीक्षा करना। आकांक्षाएँ अनन्त हैं। किन्तु उनको पूर्ण करने के साधन और समय सीमित हैं। अतः हमें उन्हीं आकांक्षाओं का चयन करना चाहिए जो हमारे जीवन का सर्वांगीण विकास कर हमें अनन्त आनन्द तथा परम तृप्ति प्रदान करें।

केवल भौतिक समृद्धि या सत्ता और पद की प्राप्ति मानव जीवन को सर्वांगपूर्ण नहीं बना सकती। जीवन की पूर्णता के लिए भौतिक समृद्धि के साथ साथ आध्यात्मिक उपलब्धि का होना भी नितान्त आवश्यक है। अतः हमें जीवन में उन्हीं आकाक्षाओं का वरण करना चाहिए जो नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ हों तथा साथ ही हमारी भौतिक समृद्धि में भी सहायक हों।

(२) अपनी आकांक्षाओं या जीवन-लक्ष्य का चयन कर लेने के पश्चात् दूसरी महत्वपूर्ण बात है उनकी पूर्ति के उपायों का चयन। लक्ष्य के समान उसकी प्राप्ति के साधनों को भी नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ होना चाहिए। शुद्ध साधनों से ही श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम तथाकथित शीघ्र फलदायी साधनों के फेर में न पड़ें। लक्ष्य प्राप्ति के लिए उचित और योग्य साधनों का ही वरण करें।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि उचित साधनों का चयन सफलता के मार्ग में एक सोपान मात्र है। अंतिम लक्ष्य पर पहुँचाने वाला वाहन तो 'कर्म' ही है। हमारी सभ्यता, हमारी वैज्ञानिक उन्नति, हमारी सुख-सुविधाओं के सभी साधन उन महान् कर्मवीरों के सत् कर्मों के ही तो फल हैं, जिन्होंने सभ्यता और विज्ञान की उन्नति के महायज्ञ में अपने महान् कर्मठ जीवन की आहुति दे दी।

कर्म ही हमारी नियति है, कर्म ही हमारा भाग्य है। आज हम जहाँ हैं, जैसे हैं वह हमारे कर्मों का ही तो फल है, अतः कल हम जहाँ होंगे, जैसे होंगे, वह हमारे आज के कर्मों का ही फल होगा। हम जीवन में जो भी उपलब्ध करना चाहते हैं, जो भी होना चाहते हैं, उसकी चाबी कर्म के रूप में हमारे ही हाथों में है। हम ही हमारे भाग्य के निर्माता हैं। ❑
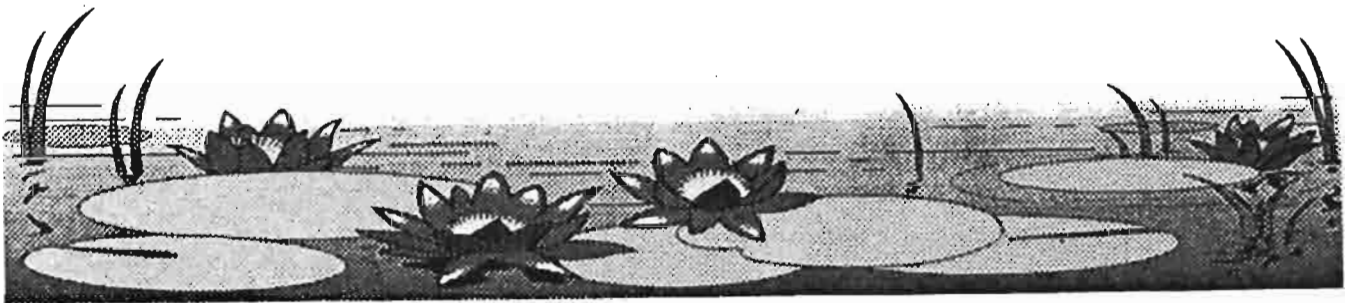
स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

अथ चतुर्थ: खण्ड:

उमा का उपदेश

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो
वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो
हैव विदांचकार ब्रह्मेति ।।१।। (२६)

अन्वयार्थ – **सा** वे (उमा) **उवाच ह** बोलीं – (वे) **ब्रह्म** ब्रह्म (थे) **इति**; **ब्रह्मण: वै** ब्रह्म के ही **विजये** विजय में (तुम लोगों को) **एतत्** यह **महीयध्वम्** महिमा प्राप्त हुई है **इति**। **तत: एव** उस (उत्तर) से ही (इन्द्र ने) **विदाञ्चकार** जाना (कि वे) **ब्रह्म** ब्रह्म (थे) **इति**।

भावार्थ – उन उमा ने कहा कि वे (यक्ष) ब्रह्म थे; ब्रह्म के ही विजय में तुम लोगों को गौरव प्राप्त हुआ है। इसी से इन्द्र ने जाना कि वे ब्रह्म थे।

भाष्य - सा ब्रह्म इति ह उवाच ह किल ब्रह्मणो वै ईश्वरस्य एव विजये – ईश्वरेण एव जिता असुरा:, यूयं तत्र निमित्त-मात्रम्, तस्य एव विजये – यूयं महीयध्वं महिमानं प्राप्नुथ। एतद् इति क्रियाविशेषणार्थम्। मिथ्या-अभिमान: तु युष्माकम् – अस्माकम् एव अयं विजयो अस्माकम् एव अयं महिमा इति। तत: तस्माद् उमा-वाक्याद् ह एव विदांचकार ब्रह्म इति इन्द्र:, अवधारणात् ततो ह एव इति, न स्वातन्त्र्येण ।।१।।

उन्होंने कहा – "वे ब्रह्म थे; ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के द्वारा ही असुरगण पराजित हुए थे; तुम लोग उसमें निमित्त मात्र ही थे; उन (ब्रह्म) के ही विजय में तुम लोगों को गौरव प्राप्त हुआ।" 'एतत्' यहाँ क्रिया-विशेषण (अव्यय) के रूप में प्रयुक्त हुआ है। "हमारी ही यह विजय है और हमारी ही यह महिमा है" – तुम लोगों का यह अभिमान मिथ्या है। तत: अर्थात् उमा के इस वाक्य से ही इन्द्र जान सके कि वे ब्रह्म थे। 'ततो ह एव – उसी से जाना' – यह इस बात पर बल देने के लिये है कि उन्होंने अपनी स्वयं की क्षमता से नहीं जाना था।

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्
यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते
ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति।।२।। (२७)

अन्वयार्थ – **यत्** चूँकि **ते** उन **अग्नि: वायु: इन्द्र:** अग्नि, वायु तथा इन्द्र ने **एनत्** इस ब्रह्म का **नेदिष्टम्** निकटतम रूप से **पस्पर्शु:** स्पर्श किया था (और) **हि** चूँकि **प्रथम:** सर्वप्रथम **एनत्** इस **ब्रह्म** ब्रह्म **इति** के रूप में **विदाञ्चकार** जाना था, **तस्मात्** इस कारण **वै** ही **एते** इन **देवा:** देवताओं ने **अन्यान् देवान्** अन्य देवताओं की अपेक्षा **अतितराम् इव** श्रेष्ठता प्राप्त की थी।

भावार्थ – चूँकि अग्नि, वायु तथा इन्द्र ही ब्रह्म का निकटतम सान्निध्य प्राप्त कर सके थे और उन्होंने ही सर्वप्रथम इस ब्रह्म को जाना, इसलिए ही उन्हें अन्य देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त हुई।

भाष्य - यस्माद् अग्नि-वायु-इन्द्रा एते देवा ब्रह्मण: संवाद-दर्शनादिना सामीप्यम् उपगता: - तस्मात् स्वगुणै: अतितराम् इव शक्ति-गुणादि-महाभाग्यै: अन्यान् देवान् अतितराम् अतिशेरत इव एते देवा:। इव शब्दो अनर्थको अवधारणार्थो वा। यद् अग्नि: वायु: इन्द्र: ते हि देवा यस्मात् एनत् ब्रह्म नेदिष्ठम् अन्तिकतमं प्रियतमं पस्पर्शु: स्पृष्टवन्तो यथोक्तै: ब्रह्मण: संवादादि-प्रकारै:, ते हि यस्मात् च हेतो: एनद् ब्रह्म प्रथम: प्रथमा: प्रधाना: सन्त इति एतत्, विदांचकार विदांचक्रु: इति एतत् ब्रह्म इति ।।२।।

चूँकि अग्नि, वायु तथा इन्द्र – इन देवों ने ब्रह्म का दर्शन, संवाद आदि के द्वारा (उनका) सामीप्य प्राप्त किया, इसलिए ये देवता अपनी शक्ति, गुण आदि महाभाग्य के कारण ऐश्वर्य में अन्य देवताओं से काफी बढ़े-चढ़े हैं। 'इव' शब्द निरर्थक या बल देने के लिए हो सकता है। चूँकि अग्नि, वायु, इन्द्र – ये देवता ही इस ब्रह्म को पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म के साथ बातचीत आदि के द्वारा अति निकट से परमप्रिय के समान स्पर्श किया (और) चूँकि उन लोगों ने ही इस ब्रह्म को प्रथम और प्रधान रूप से जाना था कि ये ब्रह्म हैं (अत: ये अन्य देवताओं से बढ़े-चढ़े हैं) ।।२।।

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्
देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्
प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ।।३।। (२८)

अन्वयार्थ – **हि** चूँकि **सः** वे (इन्द्र ने) **एनत्** इस (ब्रह्म) का **नेदिष्ठम्** निकटतम रूप से **पस्पर्श** स्पर्श किया था; **हि** चूँकि **सः** इन्होंने **एनत्** इस (ब्रह्म) का **प्रथमः** सर्वप्रथम **एनत्** इस **ब्रह्म** ब्रह्म **इति** के रूप में **विदाञ्चकार** जाना था, **तस्मात्** इस कारण **वै** ही **इन्द्रः** इन्द्र ने **अन्यान् देवान्** अन्य देवताओं की अपेक्षा **अतितराम् इव** श्रेष्ठता प्राप्त की थी ।

भावार्थ – चूँकि इन्द्र ने ही ब्रह्म का निकटतम रूप से सान्निध्य प्राप्त किया था और उन्होंने ही सर्वप्रथम इस ब्रह्म को जाना था, इसलिए ही उन्हें अन्य देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त हुई ।

भाष्य – यस्माद् अग्निवायू अपि इन्द्र-वाक्याद् एव विदांचक्रतुः, इन्द्रेण हि उमा-वाक्यात् प्रथमं श्रुतं ब्रह्म इति – तस्माद् वै इन्द्रः अतितराम् इव अतिशेरत इव अन्यान् देवान् । स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श यस्मात् स हि एनत् प्रथमो विदांचकार ब्रह्म इति उक्तार्थं वाक्यम् ।।३।।

चूँकि इन्द्र ने ही उमा की वाणी से सर्वप्रथम ब्रह्म के विषय में सुना था, चूँकि अग्नि तथा वायु ने भी इन्द्र की वाणी से ही (इन्हें) जाना था, इसीलिए इन्द्र अन्य देवताओं से बढ़े-चढ़े हैं। "चूँकि उन्होंने ब्रह्म को अति निकट से स्पर्श किया था और चूँकि उन्होंने ही सर्वप्रथम जाना था कि ये ब्रह्म हैं" – इस वाक्य का तात्पर्य (पिछले श्लोक में) कहा जा चुका है ।।३।।

ब्रह्म की देवता-विषयक उपमा

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा३
इतीन्न्यमीमिषदा३ इत्यधिदैवतम् ।।४।। (२९)

अन्वयार्थ – **तस्य** उन (ब्रह्म) का **एषः** यह **आदेशः** उपमा द्वारा उपदेश (है) **यत् एतत्** यह जो **विद्युतः** विद्युत् का **व्यद्युतत्** चमकना (है) **आऽऽ** (इसी) के समान **इति** । **इत्** और **न्यमीमिषत्** पलकों का झपकाना **आऽऽ** (इसी) के समान **इति** यह (ब्रह्म का) **अधिदैवतम्** आधिदैविक (देवता-सम्बन्धी उपदेश है) ।

भावार्थ – यह उपमा के द्वारा ब्रह्म का (ध्यान-विषयक) उपदेश है । यह वैसा ही है जैसा विद्युत् का चमकना और पलकों का झपकना । यह ब्रह्म का आधिदैविक उपदेश है ।

भाष्य – तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमा-उपदेशः । निरुपमस्य ब्रह्मणो येन उपमानेन उपदेशः सो अयम् आदेश इति उच्यते । किं तत्? यद् एतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद् विद्योतनं कृतवद् इति एतद् अनुपपन्नम् इति विद्युतो विद्योतनम् इति कल्प्यते । आ३ इति उपमार्थः । विद्युतो विद्योतनम् इव इत्यर्थः, 'यथा सकृद् विद्युतम्' इति श्रुत्यन्तरे (बृह. २/३/६) च दर्शनात् । विद्युद्-इव हि सकृद् आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतं ब्रह्म देवेभ्यः ।

जिनका प्रकरण चल रहा है, उन ब्रह्म का यह आदेश अर्थात् उपमा द्वारा उपदेश है । निरुपम ब्रह्म का जिस उपमा के द्वारा उपदेश दिया जाता है, उसे आदेश कहते हैं । वह (उपमा) क्या है? जो इस लोक में प्रसिद्ध है (वह) विद्युत् व्यद्युतत् अर्थात् चमका; यहाँ इसका 'प्रकाश किया' – ऐसा (भूतकाल में) अर्थ अनुपयुक्त होने के कारण, विद्युत् की चमक – ऐसा अर्थ लेंगे । आऽऽ उपमा के लिए है । अत: अर्थ हुआ – वह विद्युत् की चमक के समान है । अन्य श्रुति में भी देखने को मिलता है – 'एक बार बिजली चमकने के समान' । देवताओं के सामने विद्युत् के समान एक बार स्वयं को दिखाकर ब्रह्म अन्तर्धान हो गये ।

अथवा विद्युतः 'तेजः' इति अध्याहार्यम् । व्यद्युतद् विद्योतितवत् आ३ इव । विद्युतः तेजः सकृद् विद्योतितवद् इव इति अभिप्रायः । इति शब्द आदेश-प्रतिनिर्देशार्थः – इति अयम् आदेश इति । इत् शब्दः समुच्चयार्थः । अयं च अपरः तस्य आदेशः । को असौ? न्यमीमिषद् यथा चक्षुः न्यमीमिषद् निमेषं कृतवत् । स्वार्थे णिच् । उपमार्थ एव आकारः । चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाश-तिरोभाव इव च इत्यर्थः । इति अधिदैवतं देवताविषयं ब्रह्मण उपमान-दर्शनम् ।।४।।

अथवा 'विद्युत् का' शब्द के बाद 'तेज' ऊपर से जोड़ देना होगा । (तब अर्थ होगा) मानो चमका । अभिप्राय यह है कि विद्युत् का तेज मानो एक बार चमका । यहाँ 'इति' शब्द 'आदेश' शब्द का अंगुलि-निर्देश करने के लिए है कि यही वह उपदेश है । 'इत्' शब्द जोड़ने के लिए है । (अर्थात्) और यह उसका दूसरा 'आदेश' है । कौन-सा? न्यमीमिषत् अर्थात् मानो नेत्रों को बन्द कर लिया । (न्यमीमिषत् में) णिच् प्रत्यय का उपयोग (प्रेरणा के अर्थ में नहीं, बल्कि) मूल क्रिया के रूप में हुआ है । 'आऽऽ' शब्द उपमा के अर्थ में है । अर्थात् जैसे आँख के (बन्द करने से) सामने स्थित वस्तु के प्रति जानेवाला प्रकाश लुप्त हो जाता है । इस प्रकार ब्रह्म का (यह) अधिदैवत अर्थात् देवता-विषयक उपमा दिया गया ।।४।।

❖(क्रमशः)❖

दोहों में श्रीरामकृष्ण-वाणी

अशोक गर्ग, गाजियाबाद

(प्रत्यक्ष अनुभूतियों की गहराई से उद्भूत भगवान श्रीरामकृष्ण के उपदेशो में वेदों के समान शाश्वत तत्त्व निहित हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इन्हीं का सारे जग में प्रचार का बीड़ा उठाया था। दोहों के रूप में ये उपदेश स्मरण रखने की दृष्टि से उपयोगी होंगे – यही सोचकर और पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए हम उनके कुछ चुने हुए उपदेशों का दोहान्तरण प्रस्तुत कर रहे है। – सं.)

परमहंस वाणी अमिट, बाँट रही आनन्द।
दुनिया को जिसने दिया, वीर विवेकानन्द ।।१।।

वस्तु एक ही है। केवल नाम का भेद है। जो ब्रह्म है, वही आत्मा है, वही भगवान् है। ब्रह्मज्ञानियों के लिए ब्रह्म, योगियों के लिए परमात्मा और भक्तों के लिए भगवान। ... अत: किसी के मत से विद्वेष नहीं करना चाहिए।

वेदान्ती का ब्रह्म जो, भक्तों का भगवान।
योगी का परमात्मा, तीनों नाम समान ।।२।।

ईश्वर एक ही हैं, दो नहीं। उन्हीं को भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। कोई कहता है 'गॉड' तो कोई 'अल्लाह', कोई कहता है कृष्ण, कोई शिव, तो कोई ब्रह्म। जैसे तालाब में जल है – एक घाट पर लोग उसे कहते हैं, 'जल', दूसरे घाट पर कहते हैं 'वाटर', और तीसरे घाट पर 'पानी'। हिन्दू कहते हैं 'जल', ईसाई कहते हैं 'वाटर' और मुसलमान 'पानी' – पर वस्तु एक ही है। एक एक धर्ममत एक एक पथ है, जो ईश्वर की ओर ले जाता है।

ब्रह्म गॉड अल्लाह हरि, कृष्ण कहो या राम।
द्रष्टाओं ने ब्रह्म को, दिये हजारों नाम ।।३।।

जल वाटर पानी कहो, मूल वस्तु है एक।
भक्तों ने भी रख दिए, भगवन्नाम अनेक ।।४।।

नेति नेति जो वेद का, तुलसी का जो राम।
नानक का वाहे गुरु, मीरा का घनश्याम ।।५।।

ईश्वर नरलीला करते हैं। मनुष्य रूप में वे अवतीर्ण होते हैं, यथा श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीचैतन्य। नर में ईश्वर का अधिक प्रकाश है। ईश्वर को खोजना हो तो अवतारों में खोजो। अवतार का चिन्तन करने से उन्ही का चिन्तन होता है।

युग युग में लीला करें, ईश्वर बन साकार।
राम कृष्ण चैतन्य का, लेकर नर-अवतार ।।६।।

"ब्रह्म क्या है – यह मुँह से नही बताया जा सकता। जिसे उसका ज्ञान होता है वह फिर खबर नही दे सकता। चुप हो जाना पड़ता है। मुख से कहकर अनन्त को कौन समझाएगा? सब चीजे उच्छिष्ट हो गयी है, परन्तु ब्रह्म उच्छिष्ट नही हुआ अर्थात् ब्रह्म क्या है, कोई मुँह से कह नहीं सका। मुख से बोलने से ही चीज उच्छिष्ट हो जाती है।

ब्रह्म-वस्तु क्या चीज है, अनुभव से पहचान।
मुख से खबर न दे सके, जिसको होता ज्ञान ।।७।।

खूब व्याकुल होकर रोने से ईश्वर के दर्शन होते हैं। स्त्री या पुत्र के लिए लोग आँसुओं की धारा बहाते है, रुपये के लिए रोते हुए आँखें लाल कर लेते हैं, पर ईश्वर के लिए कोई कब रोता है? ईश्वर को व्याकुल होकर पुकारना चाहिए।

विषय-भोग को छोड़कर, चित्त शुद्ध हो जाय।
व्याकुलता आ जाय जब, नर ईश्वर को पाय ।।८।।

प्रेम गहरा होने पर दर्शन होता है। पति पर सती का आकर्षण, सन्तान का माँ पर आकर्षण और संसारी का विषयों के प्रति आकर्षण – ये तीन आकर्षण यदि एक साथ हों, तो ईश्वर का दर्शन होता है।

भार्या ज्यों पति को चहै, माता ज्यों सन्तान।
विषयी ज्यों धन को चहै, भक्त चहै भगवान ।।९।।

चार-पॉच तरह के आदमी ऐसे हैं, जिन्हें ज्ञान नहीं होता। जिसे विद्या का अहंकार है, जिसे धन का अहंकार है और जिसे पाण्डित्य का अहंकार है, उसे ज्ञान नहीं होता।

धन विद्या पांडित्य का, जब तक है अभिमान।
तब तक होना कठिन है, ब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान ।।१०।।

सरल होने पर ईश्वर की शीघ्र प्राप्ति होती है। जानते हो कितनों को ज्ञान नही होता? एक – जिसका मन टेढ़ा है, सरल नहीं है। दूसरा – जिसे छुआछूत का रोग है और तीसरा – जो संशयात्मक है।

मन में संशय, कुटिलता और छूत का रोग।
यदि होवे तो कठिन है, जीव-ईश संयोग ।।११।।

संसारी बद्ध जीव – ये रेशम के कीड़े है। यदि वे चाहें तो कोश को काटकर बाहर निकल सकते हैं; परन्तु खुद जिस घर को बनाया है, उसे छोड़ने में बड़ा मोह होता है। फल यह होता है कि उसी मे उनकी मृत्यु हो जाती है।

रेशम का कीड़ा करे, फँस मरने को कोश।
त्यों नर माया-मोह में, खो देता है होश ।।१२।।

केवल पाण्डित्य से क्या होगा। बाहर भाषण आदि देने से क्या होगा? गीध भी बहुत ऊँचे चढ़ जाता है, परन्तु उसकी दृष्टि मरघट पर ही रहती है। मरघट का क्या अर्थ है जानते हो? मरघट अर्थात् कामिनी-कांचन।

कोरे पण्डित गीधवत्, ऊँची भरें उड़ान।
काम-दाम पर दृष्टि रख, झाड़ा करते ज्ञान ।।१३।।

भक्ति से इन्द्रिय-निग्रह अपने आप और सहज ही हो जाता है । जितना ही ईश्वर का चिन्तन करोगे, संसार की भोग-वासना उतनी ही घटती जायेगी । उनके पादपद्मों में जितनी भक्ति होगी, उतनी ही आसक्ति घटती जायेगी, उतना ही देह-सुख से मन हटता रहेगा, पराई स्त्री माता के समान प्रतीत होगी और संसार से बिल्कुल अनासक्त हो जाओगे । तब संसार में रहने पर भी जीवन्मुक्त होकर विचरण करोगे ।

ज्यों ज्यों बढ़ता जीव का, ईश्वर से अनुराग ।
होवे अपने आप ही, विषयों से बैराग ।।१४।।

अहंकार का मिटना बड़ा मुश्किल है । बेर का पेड़ अभी काट डालो, दूसरे दिन फिर पनपेगा और जब तक उसकी जड़ है, तब तक नयी डालियों का निकलना बन्द न होगा ।

जैसे तरु है बेर का, वैसा ही अभिमान ।
जड़ कटने पर ही मिटें, दोनों एक समान ।।१५।।

ईश्वर-प्राप्ति के बाद भक्त निर्लिप्त हो जाता है, जैसे पाँकाल या कीचड़ में रहनेवाली मछली । कीचड़ में रहकर भी उसके बदन पर कीच नहीं लगती ।

अनासक्त हो भक्तगण, रहते जग के बीच ।
पंकिल मछली को नहीं, ज्यों लगता है कीच ।।१६।।

ज्ञान के दो लक्षण हैं – स्वभाव का शान्त हो जाना और अभिमान का लोप हो जाना ।

दो लक्षण हैं ज्ञान के, सदा रहे यह ध्यान ।
हो स्वभाव का शान्त जब, विस्मृत हो अभिमान।।१७।।

खूब व्याकुल होकर रोने से ईश्वर के दर्शन होते हैं । स्त्री या पुत्र के लिए लोग आँसुओं की धारा बहाते हैं, रुपये के लिए रोते हुए आँखें लाल कर लेते हैं, पर ईश्वर के लिए कोई कब रोता है? ईश्वर को व्याकुल होकर पुकारना चाहिए ।

विषय-भोग को छोड़कर, चित्त शुद्ध हो जाय ।
व्याकुलता आ जाय जब, नर ईश्वर को पाय ।।१८।।

चित्त शुद्ध होने पर, विषय-भोग की आसक्ति दूर हो जाने पर व्याकुलता आयेगी । तुम्हारी प्रार्थना ईश्वर तक पहुँचेगी । व्याकुल हुए बिना ईश्वर का दर्शन नही होता ।

व्याकुल होकर ईश को, जो नर करे पुकार ।
निश्चित उसकी प्रार्थना, सुनते करुणागार ।।१९।।

जीव का अहंकार ही माया है । यह 'अहं' मेघ के जैसा है। मेघ का टुकड़ा छोटा-सा ही क्या ने हो, पर उसके कारण सूर्य नहीं दीख पड़ते, उसके हट जाने से ही सूर्य दीख पड़ते हैं ।

छोटा टुकड़ा मेघ का, ढँक देता दिनमान ।
अहंकार से जीव का, ढँक जाता है ज्ञान ।।२०।।

ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी, फिर साकार-निराकार के परे भी हैं । उनकी इति नहीं की जा सकती ।

निराकार साकार वो, आगे भी विस्तार ।
रामकृष्ण अनुभव कहे, वे 'इत' 'उत' के पार ।।२१।।

लज्जा, घृणा और भय – इन तीनों में से किसी के रहते ईश्वर नहीं मिलते । लज्जा, घृणा, भय, जाति-अभिमान, गुप्त रखने की इच्छा – ये सब पाश हैं । इन सबके चले जाने से जीव की मुक्ति होती है ।

भीति घृणा लज्जा तथा, कुटुम-जाति अभिमान ।
इन पाशों को काटकर, ही होता है ज्ञान ।।२२।।

उत्तम भक्त कौन है? जो ब्रह्मज्ञान के बाद देखता है कि ईश्वर ही जीव-जगत् और चौबीस तत्त्व हुए हैं । पहले 'नेति-नेति' करके विचार करते हुए छत पर पहुँचना पड़ता है, फिर वही आदमी देखता है कि छत जिन ईंट, चूने, सुर्खी आदि चीजों से बनी है, सीढ़ी भी उन्हीं से बनी है । तब वह देखता है कि ब्रह्म ही जीव-जगत् तथा सब कुछ है ।

जिन चीजों से छत बनी, सीढ़ी उसकी होय ।
नेति-नेति जो ब्रह्म है, जीव-जगत् भी सोय ।।२३।।

पीपल का पेड़ जब छोटा रहता है, तब उसे चारों ओर से घेर रखते हैं कि कहीं बकरी न चर जाय; परन्तु जब वह बढ़कर मोटा हो जाता है, तब उसे घेर रखने की जरूरत नहीं रह जाती । फिर हाथी बाँध देने पर भी पेड़ का कुछ नहीं बिगड़ता । वैसे ही यदि कोई निर्जन में साधना करके ईश्वर के पादपद्मों में भक्ति बढ़ाकर गृहस्थी करे, तो कामिनी-कांचन उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे ।

साधन के लघु वृक्ष को, बकरी झट चर जाय ।
पीछे जब बढ़ जाय तो, हाथी भी बँध जाय ।।२४।।

जिनका मन, जिनका जीवन, जिनकी अन्तरात्मा ईश्वर में लीन हो गयी है, वे ही महात्मा है । जिन्होंने कामिनी-कांचन का त्याग कर दिया है, वे ही महात्मा हैं । ईश्वरीय चर्चा के सिवाय और कोई बात उनके मुँह से नहीं निकलती । और सर्व भूतों में ईश्वर का ही निवास जानकर वे सबकी सेवा करते हैं ।

वे ही साधु संत है, करते नित प्रभु-ध्यान ।
कभी नहीं जो चाहते, कनक-कामिनी-मान ।।२५।।

सब मन पर निर्भर है । मन से ही बन्धन है और मन से ही मुक्ति । मन धोबी का धुला कपड़ा है । उसे लाकर लाल रंग में रँगो, तो लाल हो जायेगा और आसमानी में रँगो, तो आसमानी । जिस रंग से रँगोगे, उस कपड़े पर वही रंग चढ़ जायेगा ।

धुला हुआ है वस्त्र मन, जैसा तुमको भाय ।
डालो वैसे रंग में, तुरत वही चढ़ जाय ।।२७।।

समाचार और सूचनाएँ

हड़प्पाकालीन स्वर्ण तथा पुरावशेष

उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले में स्थित माण्डी ग्राम सहसा ३५०० वर्ष पुरानी सभ्यता से जुड़ गया है। पिछली जून में वहाँ के एक खेत की खुदाई में कुषाणकालीन और कुछ विद्वानों के मतानुसार हड़प्पा (महाभारत) युग की पकी ईंटें, बर्तन तथा बड़ी मात्रा में स्वर्णाभूषण प्राप्त हुए हैं। पुरातत्त्व विभाग ने इसे पिछले कई दशाब्दियों के दौरान हुई सबसे बड़ी तथा महत्वपूर्ण खोजों में से एक बताया है। खेत में मिली अधिकांश सामग्री गाँव के लोगों ने लूटकर छिपा दिया था या लेकर फरार हो गये थे। तथापि जो कुछ सामग्री बच रही थी, उनमें बटन के आकार के धातु (चाँदी) के छल्ले, ताँबे का एक गल चुका कलश और ४-५ इंच चौड़ा और डेढ़ फुट लम्बा एक ट्रे मिला। सफाई कराने पर ज्ञात हुआ कि वह सोने का बना हुआ था। यद्यपि वहाँ के बहुत से अवशेषों को हानि पहुँचाई जा चुकी है, तथापि बरसात के बाद पुरातत्व विभाग वहाँ खुदाई का कार्य आरम्भ कराने वाला है। आशा है इससे प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित काफी महत्व की सामग्री प्राप्त होगी।

लगता है कि यह स्थान पिछले तीन-चार हजार वर्षों से महत्वपूर्ण बना हुआ है। क्योंकि विद्वानों के मतानुसार कुछ अवशेष ३५०० वर्ष पूर्व की हड़प्पाकालीन हैं, तो कुछ ईंटें १८०० वर्ष पहले की कुषाणकालीन हैं। ऐतिहासिक काल के दौरान यह चंदेल राजा जब्बा की राजधानी मांडवगढ़ था। अब भी इस गाँव के नीचे लगभग गज भर चौड़ी बड़े बड़े ईंटों की बनी एक किलोमीटर परिधि में दीवार है। विशेषज्ञों के मतानुसार इस तरह ही ईंटें कुषाण से गुप्त काल तक (१ से ६ वीं सदी तक) और राजपूत काल में (९वीं से १२ वीं सदी तक) प्रचलन में थीं।

इसके दो माह पूर्व इसी जिले के मदारपुर गाँव में एक प्राचीन स्थल से ताँबे की अभूतपूर्व मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थीं।

आगरा के पास पुरातात्त्विक उत्खनन

सम्राट् अकबर ने आगरे से ३४ किलोमीटर दूर फतेहपुर-सिकरी नामक स्थान पर अपनी नयी राजधानी बसाई थी। यहाँ किले के परिसर से २०० मीटर दूर स्थित 'वीर छबीली का टीला' पर हाल ही में हुए उत्खनन में प्राचीन मन्दिरों के अवशेष तथा अनेक हिन्दू तथा जैन मूर्तियाँ मिली हैं। पत्रिका में प्रकाशित इनके चित्रों में दूसरी शताब्दी में निर्मित दुर्गा की तथा ऊपरी तह पर मिली जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ उन पर अंकित लेख के अनुसार ९७७ से १०४४ ई. के दौरान बनी हुई हैं। उनमें से १०१० ई. में प्रतिष्ठापित सरस्वती की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर तथा विशेष महत्व की है। इस जैन मन्दिर के अवशेषों की निचली सतह पर लगभग दूसरी शताब्दी में लाल बलुए पत्थर से निर्मित सिंहवाहिनी दुर्गा की मूर्ति है, जो सम्भवतः अब तक प्राप्त दुर्गा की मूर्तियों में प्राचीनतम है। लगता है कि उस स्थान पर प्राचीन काल में देवी का मन्दिर था, इस्लामी आक्रमण के प्रारम्भिक दौर में ही उसका ध्वस हो जाने पर, बाद में वहाँ जैन मन्दिर बना और सौ-दो सौ वर्षों बाद उसका भी ध्वंस करके वहाँ कोई अन्य इबादतखाना आदि बना था, जो अब केवल एक टीले के रूप में ही बच रहा था। (अंग्रेजी 'फ्रंटलाइन' के ४ अगस्त २००० अंक में प्रकाशित सचित्र लेख पर आधारित)

संघाध्यक्ष महाराज को पद्मविभूषण

भारत सरकार ने रामकृष्ण मठ तथा मिशन के १३वें परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज के दीर्घकाल व्यापी जनहितकर कार्यों को देखते हुए उन्हें सन् २००० के लिए 'पद्मविभूषण' की उपाधि से सम्मानित करने के निर्णय की घोषणा की। 'भारतरत्न' के बाद सरकार द्वारा दिये जानेवाले पुरस्कारों में इसका स्थान दूसरा और 'पद्म' पुरस्कारों में यह सर्वोच्च है, इसके बाद ही 'पद्मभूषण' तथा 'पद्मश्री' का स्थान आता है। महाराज ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह कहकर इस पुरस्कार को अस्वीकार कर दिया कि इन मान-सम्मान, ख्याति, सत्ता आदि जागतिक उपलब्धियों के परे जाना ही सन्यासी का आदर्श है।

मैसूर आश्रम की प्लैटिनम जयन्ती

पिछले १८ से २१ मई को आश्रम की प्लैटिनम जयन्ती के उपलक्ष्य में चार दिनों का एक भक्त-सम्मेलन हुआ। कर्नाटक की राज्यपाल श्रीमती डी. रमादेवी ने दीप प्रज्वलित करके सम्मेलन का उद्घाटन किया। इसी दिन उन्होंने 'अमृतवर्ष' नाम की एक स्मारिका का भी विमोचन किया। इस अवसर पर कर्नाटक में रामकृष्ण-भावान्दोलन पर एक प्रदर्शनी तथा एक सास्कृतिक कार्यक्रम का भी आयोजन किया गया था। बंगलोर रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी हर्षानन्द जी ने सम्मेलन में आयोजित जनसभा की अध्यक्षता की, जिसमें शिलांग रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी जगदात्मानन्द और कुछ अन्य संन्यासी तथा भक्तों के व्याख्यान हुए। इस कार्यक्रम में लगभग ९२ संन्यासी-ब्रह्मचारियों तथा ३५०० भक्तों ने योगदान किया। **(शेष पृ. ४५५ पर)**